चरण सिंह

भारत की भयावह आर्थिक स्थिति

कारण और निदान

भारत की
भयावह
आर्थिक स्थिति

कारण और निदान

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नयी दिल्ली-110002

चरण सिंह

भारत की भयावह आर्थिक स्थिति

कारण और निदान

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

23 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

शाखाएं

चौड़ा रास्ता, जयपुर

34 नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-3

मूल अंग्रेज़ी पुस्तक 'इकॉनॉमिक नाइटमेअर ऑफ इंडिया : इट्स काज़ ऐंड क्योर' का हिंदी संस्करण

अनुवादिका : डॉ० उषा गोपाल

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली-110002 द्वारा प्रकाशित / प्रथम संस्करण : 1982 / स्वत्वाधिकारी : चौधरी चरणसिंह / सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, मौजपुर, दिल्ली-110053 में मुद्रित। [69-9-25 (20 P. 5 B)-482 / 1 N]

BHARAT KI BHAYAVAH AARTHIK STHITEE : KAARAN AUR NIDAAN (Economics) by Charan Singh

प्रस्तावना

> "हमने बाघम्बर के स्वाभिमान का भव्य भवनों और विदेशों की राजधानियों में स्थित शानदार दूतावासों से सौदा कर लिया है। हम अपने संसाधनों पर विश्वास न करके अपनी इज्जत बचाने के लिए पश्चिम के त्यागे कपड़ों को अपना रहे हैं।"[1]—यह कथन एक दशाब्दी से अधिक समय पूर्व किसी अपरिचित अर्थशास्त्री ने कहा था।

जब कभी कोई व्यक्ति भारत के राष्ट्रीय दृश्य की झलक देखे तो वह उस दशा को देखकर महज़ कांप उठता है कि देश की कितनी दुर्दशा हो चुकी है। इस भयावह स्थिति को देखकर जोसेफ़ मज़िनी की हृदय-व्यथा का स्मरण हो आता है। जोसेफ़ मज़िनी 19वीं शताब्दी में इटली के पुनरुत्थान के समर्थक थे। उन्होंने कैवूर के नेतृत्व में ऐसे आधार पर अपने देश को विकसित होते देखा जो उनके विचारों से नितांत भिन्न थे जैसा कि उन्होंने अपने देश की उन्नति के लिए सोचा था और वह उस भयावह स्थिति को देखकर कह उठे थे :

> "मैं अपने मरने से पूर्व एक ऐसा इटली देश देखना चाहता हूं जो मेरी आत्मा और जीवन का आदर्श हो। हमारा देश तीन सौ शताब्दियों पूर्व दफ़नाई गई स्थित्ति से पुनः जाग उठे। यह स्थिति आज इटली का केवल उपहास है। यह नितांत मृगमरीचिका है जो मेरी आंखों के सामने से गुजर रही है।"

स्वतंत्र भारत को एक ओर विरासत में चार समस्याएं मिली हैं जिनका आपस में संबंध है। ये समस्याएं हैं : गरीबी, बेरोजगारी, और कम रोजगारी, वयक्तिक आय में भारी असमानताएं और कठिन काम न करने की प्रवृत्ति। ये सभी समस्याएं जीवन के गलत दर्शन से उत्पन्न हुई हैं। लंबे अर्से तक विदेशी अथवा अल्पसंख्यकों का शासन रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति से भी इन समस्याओं के निराकरण में कोई सहायता नहीं मिल सकी है। इसके विपरीत इन समस्याओं का विकराल रूप

1. अमिया राव और बी० जी० राव : सिक्स थाउजैंड डेज, स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्रा० लि०, नई दिल्ली, पृष्ठ 32.

होता गया है। एक पांचवीं समस्या भी बढ़ी है अर्थात् राजनीतिक और प्रशासनिक क्षेत्रों के उच्च पदाधिकारियों में भी प्रत्येक प्रकार का संभाव्य भ्रष्टाचार फैला हुआ है।

इन सब के लिए कौन उत्तरदायी है? उत्तर स्पष्ट है: राजनीतिक नेतृत्व, जिसे उन निहित वास्तविक समस्याओं की कोई समझ नहीं है, जिन्हें उन झुग्गी-झोंपड़ियों में रहनेवालों के साथ सौहार्द नहीं है—जो इस देश के वासी हैं। देश के नेताओं ने हमारी समस्याओं के निराकरण करने के लिए विदेशों के सिद्धांतों को लागू करना चाहा जबकि हमारी परिस्थितियां भिन्न हैं। हमें अपनी परिस्थितियों के अनुसार राजनीतिक लोकतंत्र के ढांचे में ही साम्यवादी आर्थिक व्यवस्था करनी थी।

भारत की वर्तमान दुर्दशा का आविर्भाव व्यापक रूप से उसी समय से हुआ था जब स्वतंत्रता के बाद शीघ्र ही 'औद्योगिकीकरण' का दुःखद चयन किया गया था। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने कृषि को सर्वप्रथम प्राथमिकता देने के लिए कहा जिसके साथ-साथ कुटीर उद्योग अथवा हस्तकलाओं को भी शामिल किया जाना था और इसके बाद छोटे-मोटे अथवा लघु उद्योगों को स्वीकार करना था और सबसे बाद में भारी उद्योग को हाथ में लेना था। लेकिन गांधी जी के विचारों को उनके उत्तराधिकारी ने अस्वीकार कर दिया और उन्होंने **प्रतिष्ठा के लिए ऐसी नीतियों को अपनाया जो आंतरिक स्थिति से बिल्कुल भी मेल नहीं खाती थीं।** भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में औपचारिक रूप से एक बार में ही 'समाजवादी' होना स्वीकार किया और यह विचार जनवरी, 1955 में अवादी के वार्षिक सम्मेलन में एक रात में ही उभरकर आया। उसके बाद बड़ी-बड़ी औद्योगिक यूनिटें और सार्वजनिक क्षेत्रक के प्रसार को कांग्रेस नेताओं ने ध्येय बना लिया और इसे ही देश की प्रगति समझने लगे।

गांधी जी ने भारत के निर्माण को निम्न स्तर से ऊपर उठाना चाहा, जिसका अर्थ यह था कि सबसे अधिक निर्धन और कमजोर वर्ग को आगे बढ़ाना था और इसीलिए ग्राम को केंद्र माना गया: नेहरू इसके बिल्कुल विपरीत ही रहे। वह चाहते थे कि भारत को ऊपरी स्तर से प्रारंभ करके निम्न स्तर तक ठीक किया जाय अर्थात् उद्योगपतियों, प्रबंधकों और तकनीकियों से विकास का कार्य प्रारंभ करना था और इस हेतु नगर को केंद्र माना गया। नेहरू ने अपने इस निर्णय के प्रति बहुत समय बाद खेद प्रकट किया, लेकिन वह उनके जीवन का अवसान काल था और उनके पास इतना समय नहीं रह गया था कि वह इस विकास-चक्र को घुमाकर पुनः दूसरे मार्ग को अपनाते।

गांधीजी की वास्तविक प्रतिभा यह थी कि दबी हुई जड़ से ही योजना बनाई जाय। भारत का कल्याण कृषि से अधिक अच्छा और शीघ्रता से किया जा सकता है। कृषि से भोजन और कपड़ा मिल सकता है तथा घरेलू अथवा लघु उद्योग भी उपलब्ध हो जाते हैं जिन्हें उत्तरोत्तर बढ़ाने की आवश्यकता है और मेहनत-मजदूरी को कम करने की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए सबसे सरल उपायों या साज-सज्जा का उपयोग किया जाता है और इसका आधार नितांत स्थानीय प्रतिभा पर निर्भर है। कृषि और श्रमप्रधान तथा अल्पकालीन योजनाओं की अपेक्षा नेहरू ने विशाल, खर्चीली, पूंजी प्रधान योजनाओं को प्राथमिकता दी, जो न केवल अधिक

समय लगानेवाली थीं अपितु विरल संसाधन, यथा—इस्पात, सीमेंट, जटिल तकनीकी विशेषज्ञता और विदेशी मुद्रा के बेकार उपयोग कराने में लगी रहीं।

धीरे-धीरे आर्थिक संकट गहरा होता गया और छठे दशक की मध्यावधि में हमें अपनी भूल का प्रभाव नजर आने लगा। फिर भी हमारी आंखें बन्द ही रहीं और हम यह न जान पाए कि हम क्या भूल कर रहे हैं। सभी चेतावनियों की अवहेलना की गयी। स्वतंत्रता के बाद हमारी आर्थिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण के निमित्त गांधीवादी ढंग को अस्वीकार किया गया और इसके साथ ही साथ आर्थिक विकास के लिए पूर्णतया विदेशी स्वरूपों को अपनाया गया। इसका केवल यही परिणाम हुआ कि हमारी दुर्दशा बढ़ती गयी।

मोटे तौर पर यह कहना उपयुक्त है कि किसी भी देश की आर्थिक दशा इस संबंध से प्रकट होती है कि उस देश के भौतिक संसाधन और उनको कार्यान्वित करने के स्तर उस देश की जनसंख्या और बढ़ती हुई जनसंख्या की दर के समानुपात हैं। यद्यपि भौतिक संसाधन की मात्रा और गुणवत्ता मानवीय नियंत्रण के परे है, लेकिन उन्हें काम में लाने का स्तर अलग-अलग हो सकता है और उनके प्रयोग को बढ़ाया जा सकता है। इसी प्रकार मनुष्य देश की जनसंख्या के लिए कुछ भी नहीं कर सकता फिर भी बढ़ती हुई जनसंख्या की दर को कम कर सकता है। अतः हम उन सभी कामों को कर सकते हैं जो हमारे करने योग्य हैं अर्थात् हम अपने भौतिक संसाधनों का अधिकाधिक उपयोग कर सकते हैं और हम अपने मानवीय 'संसाधनों' की वृद्धि को भी रोक सकते हैं ताकि हमारी आर्थिक स्थिति में सुधार आ सके। फिर भी भारत ने इन दोनों में से किसी में भी विशेष सफलता प्राप्त नहीं की है।

गरीबी का अर्थ यह है कि ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का अभाव रहे जो व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूरा करती हैं—चाहे वे आवश्यकताएं मूल हों अथवा सामान्य हों। यही वस्तुएं और सेवाएं कृषि और कृषीतर संसाधनों से प्राप्त होती हैं। यद्यपि कृषि विकास को कृषि से इतर विकास से प्रोत्साहन मिल जाता है लेकिन कृषि-विकास कृषीतर विकास पर आश्रित नहीं है—कम-से-कम प्रारंभिक अवस्था में ऐसा नहीं होता। दूसरी ओर, कृषीतर संसाधन उस समय तक विकसित नहीं हो सकते जब तक कृषि संसाधन प्रथमतः विकसित न हों अथवा साथ-ही-साथ विकसित न हों—दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जब तक खाद्यान्न और कच्चे माल के उत्पादन में वृद्धि न हो और इसके फलस्वरूप जब तक ग्रामवासियों की क्रय-शक्ति न बढ़े और कृषि-क्षेत्र से मजदूरों को हटाकर कृषीतर क्षेत्रक में न लगाया जाय। फिर भी पाठक को इस सत्य अथवा कम-से-कम इस तथ्य की अनुभूति होगी कि हमें अपनी परिस्थितियों में अपेक्षाकृत अधिक ध्यान और अधिक वित्तीय संसाधन मिले और मिल रहे हैं जिनकी कृषि-विकास के लिए आवश्यकता है लेकिन हमारे राजनीतिक नेतृत्व के कारण उनका बराबर अभाव रहा है।

एक ओर, आय की असानताओं की वृद्धि हुई है और एकाधिकार का प्रादुर्भाव हुआ है तो दूसरी ओर, बेरोजगारी (जिसमें कम रोजगारी भी शामिल है) बढ़ी है। इस स्थिति का कारण यह है कि उत्पादनशील उद्योगों का यंत्रीकरण और

स्वत: चालन में वृद्धि की गई है तथा निर्माण और सेवाएं भी बढ़ी हैं। पूंजी-प्रधान परियोजनाओं और उद्योगों पर बल दिया गया है और दूसरी ओर कुटीर उद्योगों की अवहेलना की गयी है तथा अन्य श्रम प्रधान उद्यमों को नकारा गया है।

न तो कृषि और न गैर कृषि संसाधनों का विकास किया जा सका है और न ही जनसंख्या को नियंत्रित किया जा सका। यह परिवर्तन तभी हो सकता है जब हम लोग अपने पुराने तरीके, प्रवृत्तियां, रीति-रिवाज और संस्थाओं को बदल दें और अपेक्षाकृत अधिक कठोर, अच्छा और अधिक समय तक काम करें जैसा कि अब तक नहीं कर पाए हैं। उदाहरण के लिए हमें इस बात की आवश्यकता है कि हम अपने भाग्यवाद को अलय करें, जाति-प्रथा को समाप्त करें, संतति-निग्रह का अभ्यास करें और उस संसदीय लोकतंत्र के प्रति एक नयी दृष्टि अपनाएं जो हमें प्राप्त हुआ है। लेकिन इस बात का दु:ख है कि अभी तक कार्यकर्ताओं अथवा विद्वानों या नेताओं ने इस आवश्यकता को महसूस नहीं किया है। अभी तक ऐसा कोई भी व्यावहारिक कदम नहीं उठाया गया है जो हमारी शैक्षिक पद्धति को बदल सके अथवा उसमें सुधार ला सके जबकि हम सभी इस आवश्यकता को बार-बार महसूस कर दोहरा लेते हैं।

इस पुस्तक के आगामी पृष्ठों में पाठक यह अध्ययन कर सकेंगे कि भारत की आर्थिक उन्नति की मुख्य बाधा यह रही है कि हमारा राजनीतिक नेतृत्व, विशेषकर हमारे सभी आयोजक और अर्थशास्त्री शहरी विद्वान रहे हैं, और उनका मार्क्स के उन सिद्धांतों के प्रति आकर्षण रहा है जो हमारे देश की वर्तमान आर्थिक वास्तविकताओं की दृष्टि से नितांत बेकार हैं।

आज भारतीय अर्थव्यवस्था का आधारभूत तथ्य यह है कि यहां ऐसा अल्पसंख्यक वर्ग है जिसकी सूक्ष्म दृष्टि है और वह सशक्त है। यही वर्ग गरीबों की न्यूनतम आधारभूत आवश्यकताओं की व्यवस्था से बड़े-बड़े वास्तविक संसाधन विधिपूर्वक हटाता रहता है ताकि सम्पन्न वर्ग के लोगों के लिए आधुनिक सुख-सुविधाएं जुटती रहें, उनका अनुकरण किया जा सके और उन्हें बराबर विस्तार दिया जा सके। यहां तक कि इन्हीं अल्पसंख्यक लोगों के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा करने में लगातार विदेशी सहायता भी ली जाती रही है। जो कुछ भी किया जाता है और जो कुछ भी निर्माण होता है, वह शीघ्र ही एक ऐसा कारोबार हो जाता है मानो अपने देश में एक लघु न्यूयार्क बन गया है। जबकि अपना देश संसार का सबसे गरीब देश माना जा सकता है।

वातानुकूलित संयंत्रों, सिंथैटिक फाइबर फैक्टरियों, विशाल होटलों, गगनचुंबी अट्टालिकाओं, घरेलू अनगिनत सामान और इसी प्रकार की अन्य सामग्री के लिए अत्यधिक आर्थिक संसाधनों का उपयोग करना उन गांवों के लिए कोई अर्थ नहीं रखता जहां वर्ष के अधिकांश समय में कोई काम नहीं है। इन सभी वस्तुओं का उन दो लाख से भी अधिक व्यक्तियों के लिए कोई मूल्य नहीं है जो गांवों में रहते हैं और जिन्हें स्वच्छ पीने का पानी नहीं मिल पाता अथवा लंबी-लंबी यात्राएं करने के बाद ही उन्हें पानी मिल पाता है। इनका महत्व उन गांव के लोगों के लिए भी नहीं

है जिनके बच्चे सदा अधपेट भूखे सो जाते हैं। उन लोगों ने अतीत में कष्ट उठाये हैं, वे वर्तमान समय में घबरा उठे हैं और उन्हें भविष्य की भी कोई आशा नहीं है। काश ! उन्हें भी इस सब के प्रति आक्रोश करना आ जाता।

फरवरी, 1973 के पहले सप्ताह में नयी दिल्ली में एक एशिया सभा आयोजित की गई। इस सभा में विश्वविख्यात अर्थशास्त्री और समाज वैज्ञानिक **प्रोफेसर गुन्नार मिर्डल** ने भारत की आर्थिक दशा की ओर संकेत करते हुए एक लेख प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था, 'आर्थिक देशों में अवरोध के प्रति चुनौती' और इस लेख में उन्होंने यह व्यक्त किया :

> "गांधी निश्चय ही एक आयोजक थे और वह वास्तव में एक विवेकी आयोजक थे। लेकिन उन्होंने अपनी योजना में स्वच्छता और स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान दिया तथा वे मुख्यतया उसी से चिपके रहे, उन्होंने सघन कृषि द्वारा स्वास्थ्य पोषक आहार का स्तर ऊंचा करने पर बल दिया। उन्होंने शिक्षा की दिशा को बदलने का आग्रह किया, जिसमें केवल शिक्षा के प्रसार पर जोर नहीं था बल्कि शिक्षा के 'बुनियादी' आधार पर बल दिया गया था, और शिक्षा भी केवल साहित्यिक एवं शैक्षिक ही नहीं। उन्होंने भूमि और सम्पत्ति के पुनर्वितरण के लिए कहा जिससे अपेक्षाकृत अधिक समानता आ सके।······ अभी हाल ही के वर्षों में ऐसा हुआ है कि हम सामान्यतया गांधी के विचारों की ओर झुके हैं। यहां तक कि कुछ अर्थशास्त्रियों ने 'संगठित योजना' पर बल दिया है जो एक आधुनिक दृष्टिकोण है और जिस पर गांधी ने हर समय सीख दी थी। मेरे भारतीय मित्र इस बात से नाराज नहीं होंगे जब मैं यह कहूं कि भारतीय योजना को उतनी सफलता नहीं मिल पायी जितनी कि वास्तव में मिलनी थी, तो इस संबंध में मेरा मुख्य स्पष्टीकरण यह है कि उन्होंने इतना समीपी संबंध नहीं रखा जितना कि इनको राष्ट्रपिता की शिक्षाओं की आधारभूत संकल्पनाओं के साथ रखना था।"[1]

ढाढ़स बंधानेवाली बात है कि जैसे ही राष्ट्रीय संकट अधिक हुआ है वैसे ही गांधी दर्शन-जैसे विकल्प के लिए भी इस देश के कई विद्वान आगे बढ़े हैं, जो जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में प्रशासकों, शिक्षाविदों, वैज्ञानिकों, विद्वानों और राजनीतिज्ञों के रूप में काम कर रहे हैं जबकि उनमें से कई व्यक्तियों को 'गांधीवादी दर्शन के अनुयायी' नहीं माना जाता और न ही उन लोगों का ऐसा माने जाने का आग्रह है।

भारत का यह दुर्भाग्य रहा है कि योजना का भवन आदर्शों पर टिकाया गया है और उसमें साधारण समझ का भाव रहा है। हम उन लोगों को अपनी दया का पात्र भी मानते और उनकी निंदा न करते यदि वे लाखों लोगों के भाग्य-विधाता न होते।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ऐसी आर्थिक नीति के ढांचे की चर्चा की गयी है जिसे प्रथम

1. 'द नागपुर टाइम्स', 16 फरवरी, 1973

अथवा केन्द्रीय स्थान दिया गया है जबकि धन अथवा मशीनों को प्राथमिकता नहीं दी गयी है। कृषक-स्वामित्व प्रणाली के अन्तर्गत कृषि को प्राथमिकता दी गयी है, हस्तशिल्प और कुटीर उद्योगों को प्रमुखता दी गयी है, विकेन्द्रीकरण और स्वावलंबन पर बल दिया गया है तथा इन सबसे ऊपर आज की परिस्थितियों में राजकीय एजेंसियों को अर्थव्यवस्था के क्रम में यथासंभव कम-से-कम भूमिका अदा करने के लिए कहा गया है। इन सभी प्रयासों का कुल मिलाकर एक उद्देश्य है कि लोकतंत्र के आधारभूत सिद्धान्त—**जनता का शासन, जनता के लिए, जनता द्वारा** को चरितार्थ किया जाये।

अब तक जिस सीमा तक मार्ग का अनुसरण किया गया और भारतीय अर्थ-व्यवस्था को मार्गदर्शन दिया गया, उससे ऐसा लगता है कि गांधी ने जो कुछ भी विचार किया था उसे लगभग समाप्त ही माना जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि 'गांधी के चरण-चिह्नों पर चलने' के लिए कोई भी दलील देना आज की आर्थिक वृद्धि के स्वरूप की आवश्यक रूप से आलोचना किया जाना है जिसे नेहरू के नेतृत्व में निर्मित किया गया है। लेकिन मेरा विनम्र मत यह है कि नेहरू ने जो मार्ग अपनाया उसकी आलोचना करना वस्तुत: आवश्यक है। अत: ऐसी आलोचना को सही परिप्रेक्ष्य में समझना होगा और इस आलोचना को इस प्रकार नहीं कहना चाहिए कि इससे कहीं भी सुदूर ऐसा प्रयत्न लगने लगे कि नेहरू ने स्वतंत्रता के निर्माण के वर्षों में जो अविस्मरणीय योगदान किया है उसे शनै:-शनै: कम न कर दिया जाये।

फिर भी इसके साथ ही क्या कोई भी गंभीरता से इस बात पर चर्चा करेगा कि क्या राष्ट्रपिता और उनके उत्तराधिकारी के विचारों में आधारभूत अन्तर थे? और क्या जनता पार्टी ने नेहरू के तीस वर्षों के प्रयोग के बाद गांधी जी के मार्ग पर लौटने के लिए वचन नहीं दिया था? फिर भी यह दलील नहीं दी जाती है कि शहरीकरण इतना बुरा नहीं है। गांधी जी ने इसे शोषक और रक्त चूसनेवाली प्रक्रिया बताया है। क्या हमने इस प्रक्रिया के चक्र को फिर से उल्टा घुमाया है या हम उसे फिर उलटना चाहते हैं? हमें इस स्थिति पर गंभीरता से विचार करना होगा।

इतिहास प्राय: निष्ठुर और अत्याचारी रहा है। भावनाओं ने शायद ही उसके कथन को प्रभावित किया है। इतिहास के आधारभूत कार्यों में से एक कार्य यह है कि भावी पीढ़ियों को वे सब पाठ सिखाए जायें जो उसमें निहित हैं। यदि भावनाएं इतिहास के सही पाठों के देखने में अंधा करती हैं तो हम न केवल अपने प्रति ही झूठे होंगे अपितु अपने पूर्वजों के प्रति भी झूठे ठहरेंगे और उनकी स्मृति और योगदान के प्रति भी झूठे रहेंगे जो हमें अमर और प्रिय लगते हैं। इस संबंध में इतिहास का केवल एक ही कथन है, अर्थात् 'आधुनिकीकरण' जिसके फलस्वरूप भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था समाप्त हो गयी है अथवा वह ग्राम अर्थव्यवस्था भी समाप्त हो चुकी है जो विदेशी शासन के बाद रह गयी थी : अब नगरों और गांवों में बेरोजगारी बढ़ती जा रही है और शरीर अथवा आत्मा के पोषण के बिना ही नगरीय सर्वहारा वर्ग की वृद्धि होती जा रही है।

मैंने यह प्रयास नहीं किया है कि किसी विवादात्मक भावना से भारत की आर्थिक समस्याओं के निराकरण के लिए गांधीवादी विचारधारा को आगे बढ़ाया

जाय । मेरी यह भी इच्छा नहीं है कि भारत में जो कुछ भी उपलब्धि हुई है, उसको नकारा जाय । कुल मिलाकर मेरा, जोरदार शब्दों में, कहने का यही अर्थ है कि गांधी और नेहरू का संयोजन नहीं किया जा सकता, चाहे वास्तविक जीवन में शैक्षणिक वाद-विवाद ही क्यों न किया जाय ।

मुझे अत्यधिक संतोष होगा यदि नीति-निर्माण के संबंध में मेरे दिए गए सुझाव, चाहे वे कितने ही अपूर्ण क्यों न हों, के माध्यम से राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा करने की प्रेरणा मिलेगी । मुझे विश्वास है कि इस चर्चा से व्यापक रूप से एक ऐसा मत उभरेगा कि हमने अपनी सबसे अधिक जटिल आर्थिक और मानवीय समस्याओं के निराकरण का गुरुभार संभाला है, क्योंकि हमारा राष्ट्र सबसे अधिक जनसंख्या वाला दूसरा राष्ट्र है ।

लेखक कोई अर्थशास्त्री नहीं है अपितु साधारण सार्वजनिक कार्यकर्ता है । यह लेखक का सोभाग्य ही है कि उसका जन्म एक छोटे किसान परिवार में हुआ है और उसने भारत के सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश के शासन का कुछ अनुभव हासिल किया है । उत्तर प्रदेश एक ऐसा राज्य है जिसकी छियासी प्रतिशत जनता ग्राम-वासिनी है । लेखक का ऐसा कोई दावा नहीं है कि उसके विचार मौलिक हैं परन्तु उसने अधिक विश्वास के साथ महात्मा गांधी की भारत के लिए आर्थिक नीति को समझाने का प्रयास किया है, चाहे वह कितना ही अधूरा क्यों न हो । यह व्याख्या उन्हीं शब्दों में की गयी है जिनको महात्मा ने बार-बार दोहराया था और व्यापकता से तथा गहराई से लिखा भी था । वस्तुतः मुझे गांधी जी के प्रति बहुत ही आदर है, जिन्होंने भारत की आर्थिक नीति के संबंध में पूर्ण और ब्योरेवार सभी महत्वपूर्ण पक्षों पर लिखा है । हमारा दुर्भाग्य यह है कि हमने एक राष्ट्र के रूप में इन सभी लेखों की उपेक्षा की है और स्वयं तथा शेष संसार को धोखा ही दिया है कि हमने ऐसी महान् आत्मा की अवहेलना की है और उनके उच्च व्यावहारिक मार्गदर्शन को त्यागा है । हम इसी बात से संतुष्ट हैं कि हम उनका मौखिक ही गुणगान कर लेते हैं ।

यह कहना आवश्यक न होगा कि इस पुस्तक में जो कुछ भी कहा गया है वह आवश्यक रूप से उस राजनीतिक पार्टी के विचारों को व्यक्त नहीं करता जिसका सदस्य होने का सौभाग्य लेखक को प्राप्त है और यदि लेखक का परिश्रम राष्ट्रपिता की शिक्षाओं के प्रति जनरुचि को प्रोत्साहित करा सका तो लेखक यह महसूस करेगा कि उसे इसके बदले में बहुत कुछ मिल गया है ।

नयी दिल्ली

—चरण सिंह

विषय-क्रम

प्रस्तावना v

पहला भाग

1. राष्ट्र की दशा 3
2. कृषि की भूमिका 37
   - खाद्यान्नों के उत्पादन की वृद्धि की आवश्यकता
   - कच्चे माल का उत्पादन
   - जनता की क्रयशक्ति
   - कृषि से कामगारों की मुक्ति
   - कृषि उत्पाद का निर्यात
3. भारत की स्थायी आर्थिक स्थिति 90
4. उद्योग की तुलना में कृषि 103
   - योजना की तकनीक
5. भूमि-प्रणाली 123
   - संयुक्त और सामूहिक खेती
   - किसान-स्वामित्व
   - भारत में भूमि-सुधार : एक विडम्बना
   - भूमि का पुनर्वितरण
   - चकबन्दी
   - सेवा सहकारी समितियां
6. कृषि में पूंजी-अभाव 195
7. किसान का शोषण 224
8. गांव की वंचना 253
   - वृद्धि की दर

दूसरा भाग

9. औद्योगिक ढांचा 289
   - अमूर्त सघन पूंजी उद्योग के लिए स्थितियां
10. समाजवाद और मिश्रित अर्थव्यवस्था 326
11. सार्वजनिक क्षेत्रक 339

12. विदेशी ऋण 372
13. विदेशी निवेश : बहुराष्ट्रिक अथवा सहयोग के रूप में 386
14. निजी क्षेत्रक और आर्थिक शक्ति का संकेन्द्रन 401
15. बढ़ती हुई आय की असमानताएं 415
16. बढ़ती हुई बेरोजगारी 425
भारत का वि-उद्योगीकरण
17. श्रम-नीति 464

तीसरा भाग

18. गांधीवादी दृष्टिकोण 481
19. भारत की कृषि-संभाव्यता 489
20. ग्रामीण विकास के लिए निधियां 498
नौकरशाही की संवृद्धि और परिलब्धियां
फिजूल खर्च के कतिपय उदाहरण
जनता की उपेक्षा करके बिलासप्रिय रहन-सहन
21. श्रम-प्रधान विकेन्द्रित उद्योग 538
कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योग द्वारा अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन और अपेक्षाकृत अधिक रोजगार
भारी आय असमानताओं का परिहार और लोकतंत्र को प्रोत्साहन
श्रम-प्रधान विकेंद्रित उद्योग के अन्य लाभ
विकेंद्रित उद्योगों के विपरीत तर्कों का समाधान
22. उन्नत अथवा उपयुक्त तकनीकें 574
23. न्यासिता 581
24. स्वयं रोजगार का मध्य मार्ग 585
25. विकेन्द्रीकरण (और रोजगार) के लिए ठोस साधन 589
कृषि
विनिर्माण उद्योग
सड़कें, परिवहन और निर्माण
सेवा क्षेत्रक
निष्कर्ष
26. शक्ति-संरचना में आमूल परिवर्तन 622
27. उपसंहार 647
मानसिक अभिवृद्धि
जाति-प्रथा
जनसंख्या-नियन्त्रण

भारत की भयावह आर्थिक स्थिति

कारण और निदान

पहला भाग

1

राष्ट्र की दशा

गांधीजी ने स्वतंत्रता को हर आंख के आंसू पोंछने का सुअवसर माना था। 14 अगस्त, 1947 की आधी रात से कुछ पूर्व ही नेहरू ने यह वाक्यांश दोहराया और एक घोषणा की, जो इस प्रकार है :

> "कई वर्ष हुए जब हमने भाग्य के साथ सौदा किया था और अब समय आ गया है जब हम अपनी प्रतिज्ञा का पालन करेंगे, चाहे वह पूर्णतया अथवा समग्र रूप में न हो किन्तु वह वास्तविक रूप में होगी। ठीक आधी रात के समय जब संसार सो रहा होगा, उस समय भारत जीवन तथा स्वातंत्र्य लेकर जागेगा। एक क्षण आता है, ऐसा क्षण आता ही है लेकिन इतिहास में वह विरल क्षण होता है जब हम पुरातन से निकलकर नवीन जीवन पाते हैं, एक युग का अन्त होता है और जब काफी समय से दमित राष्ट्र की आत्मा को वाणी मिलती है। यह उचित है कि ऐसे भव्य क्षण में हम भारत और देश के लोगों की सेवा में समर्पित होने की घोषणा की प्रतिज्ञा करें और इससे भी अधिक महान् उद्देश्य यह है कि हम मानवता के प्रति सेवाव्रत लें।"

नेहरू की "भाग्य के साथ सौदा" की उक्ति "निराशा से भरे काल" में परिणत हो गई है।

अब स्वतंत्रता प्राप्त किए हुए 30 वर्षों से अधिक समय बीत चुका है और अब ऐसा समय है जब हमें इस बात की जांच करनी है कि गांधीजी के स्वप्न को कितना साकार किया गया है और क्या नेहरू की प्रतिज्ञा का 'वास्तविक रूप' से पालन किया गया है।

हमारी पंचवर्षीय योजनाओं का, विशेष रूप से दूसरी और तीसरी योजना का आधार वाक्य था—"समाजवादी आधार पर विकास किया जाये ताकि तीव्र गति से

आर्थिक संवृद्धि की जा सके और रोजगार के अवसर बढ़ाए जा सकें, आय और सम्पत्ति की असमानताओं को कम किया जा सके, आर्थिक शक्ति को केन्द्रित होने से बचाया जा सके और स्वतंत्रता तथा समानता पर आधारित समाज के मूल्यों और प्रवृत्तियों का सृजन किया जा सके।"

फिर भी, इस पुस्तक के आगामी पृष्ठों से शनैः-शनैः यह पता चलेगा कि इन चारों उद्देश्यों में से किसी भी उद्देश्य की पूर्ति नहीं हुई है। तीस वर्षों के प्रयत्नों के बाद भी हमारे देश ने अपनी उन्नति के लिए जो लक्ष्य निर्धारित किए थे वे वस्तुतः हमारी दृष्टि से ओझल होते गए हैं। योजना आयोग ने जो भी प्रक्षेपण किए हैं उनमें से प्रत्येक प्रक्षेपण बिल्कुल ही गलत साबित हुआ है।

राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद यदि हम अपनी उपलब्धि का मूल्यांकन करें तो हमें अतीत की ओर देखना होगा जिसे हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं, अर्थात् (1) वह काल जब अंग्रेज हमारे देश में व्यापारी के रूप में घुसे थे और जब भारत में स्थायी सरकार थी; और (2) वह काल जब हमने स्वतंत्रता की पहली लड़ाई प्रारंभ की और अपने देश से विदेशियों को बाहर निकाल दिया।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तर मध्यकाल में अंग्रेजों के आगमन के बाद शीघ्र ही पारंपरिक उद्योगों का पतन होने लगा जिसके साथ ही हमारे देश में आर्थिक दशा क्षीण होती गई। यह पतन हमारे देश में न केवल जनसंख्या की वृद्धि के दबाव से ही हुआ अपितु वास्तविक मजदूरी की दरों में भी निरंतर ह्रास होता गया। उदाहरणार्थ, उत्तर-पश्चिमी प्रांत में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के दौरान जिला बरेली के प्रथम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर के संकलनकर्ता ने यह लिखा है कि विभिन्न वर्गों के कामगारों (यथा : खेतों पर काम करने वाले मजदूर, चरवाहे, दर्जी, मिस्त्री आदि) की मजदूरी लगभग वही है जो 1826 में थी जबकि इन दोनों काल के मध्यांतर में कीमतों में काफी वृद्धि हुई है।

वस्तुतः विख्यात अर्थशास्त्री कोलिन क्लॉर्क का वह अध्ययन जो विभिन्न ऐतिहासिक प्रलेखों पर आधारित है यह दर्शाता है कि जो वास्तविक मजदूरी की दरें सन् 1895 में प्रचलित थीं वे जहांगीरकालीन दरों की एक चौथाई दरें ही थीं।

कोलिन क्लॉर्क ने यह प्रश्न उठाया है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के पचास वर्षों में भारत में प्रति व्यक्ति आय का स्तर बहुत ही कम था, क्या वह स्तर देश में सदैव ही रहा है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'द कंडीशन ऑफ़ इकनॉमिक प्रोग्रेस' (मैकमिलन, लंदन, 1960) में इस संबंध में जो वर्णन किया है वह इस प्रकार है :

> "इस बात के काफी प्रमाण हैं कि ऐसा नहीं था बल्कि बहुत पहले वास्तविक आय अपेक्षाकृत कहीं अधिक थी। यह आश्चर्यजनक घटना नहीं है। सन् 1707 में औरंगजेब की मृत्यु के बाद से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटिश शासन की अन्तिम रूप से स्थापना होने के समय तक की अवधि में भारत में युद्ध, अराजकता और रक्तपात की भयावह स्थिति रही और आर्थिक उत्पादकता

के स्तर में भारी गिरावट आई जो ठीक ही है। प्रोफेसर राधाकमल मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'इकनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया' में जोरदार शब्दों में कहा है कि सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में जो दरें प्रचलित थीं, उनकी तुलना में इस समय वास्तविक मजदूरी की दरें आधी से भी कम हैं।

"इस अवधि के बारे में निर्णय करने के लिए संगत साक्ष्य ब्रजनारायण की पुस्तक 'इंडियन इकनॉमिक लाइफ' (लाहौर, 1929) में संकलित है। इस अवधि के संबंध में भारतीय अभिलेख बहुत ही कम हैं; लेकिन यूरोप में जो खोजें की गई हैं, उनसे उस समय के डच और पुर्तगाली नौचालकों के रोचक अभिलेखों से पता लगा है कि उन्होंने भिन्न-भिन्न वस्तुओं की आपूर्ति के लिए क्या-क्या कीमतें चुकाई थीं। उन्होंने अपने सिक्कों में जो कीमतें अदा की थीं उन्हें चांदी के रुपयों में पुनः दर्शाया गया है। उस समय चांदी के रुपए में समकालीन इंग्लिश शिलिंग की तुलना में लगभग ढाई गुनी चांदी होती थी।

"उन्होंने इन परिमाणों को अधिकतम सुविधा से प्रकट किया है जिसका आधार एक रुपए में प्राप्त अलग-अलग किस्मों की वस्तुओं की मात्रा से है और उन्हें ओरिएंटल यूनिट[1] की संख्या में दोहराया गया है (ओरिएंटल यूनिट का विनिमय रुपए से हो सकता था) और इसके बाद माध्यिका निकाली गयी है। सोलहवीं शताब्दी के अंत में अकबर के शासनकाल में इन आंकड़ों की माध्यिका से यह विदित होता है कि एक रुपए में 45 ओरिएंटल यूनिट के खरीदने की शक्ति थी। सत्रहवीं शताब्दी की प्रारंभिक अवधि में जहांगीर के शासन काल में हमें अधिक मात्रा में आंकड़े मिले हैं जो कुल मिलाकर 25 हैं। यदि इनका उपविभाजन किया जाए तो हमें यह पता चलेगा कि अनाजों के लिए रुपए की माध्यिका क्रय शक्ति 24 और पशुधन के उत्पादनों की 95 ओरिएंटल यूनिट थी। आज की स्थिति की तुलना में पशुधन उत्पादनों का उल्लेखनीय सापेक्ष सस्तापन अपने में ही इस बात का साक्ष्य है कि उस समय समाज में उत्पादन अधिक था और खाते-पीते लोग खुशहाल थे और इन उत्पादनों में खाने-पीने की आज की तुलना में चीजें कहीं अधिक थीं। कुल मिलाकर हम एक रुपये की क्रयशक्ति को 45 ओरिएंटल यूनिट मानते हैं।"

ब्रजनारायण ने भी मजदूरों के अलग-अलग वर्ग के लिए मजदूरी की दरों की तालिका दी है जिन्हें हम आज रुपए के हिसाब से ऊपर दिए गए गुणांकों के प्रयोग से पुनः व्यक्त कर सकते हैं। इन आंकड़ों की 1895 के लिए एटकिन्सन के आंकड़ों के साथ, जो शायद सबसे कम थे, आज के आंकड़ों से तुलना की जा सकती है। गत आधी से अधिक शताब्दी में पर्याप्त सुधार हुआ है जिससे यह विदित होता है कि

1. कोलिन क्लार्क ने ओरिएंटल यूनिट को भारत में 1948-49 में एक रुपए के द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विनिमय में प्राप्त की जाने वाली वस्तुओं या सेवाओं के समकक्ष माना है।

जहांगीर के शासनकाल में जो दरें थीं उनकी तुलना में आज वास्तविक मजदूरी की दरें आधी और एक तिहाई के बीच में हैं। प्रोफेसर मुकर्जी का यह दावा पूर्णतया न्यायसंगत है :

तालिका 1

ओरिएंटल यूनिट के अनुसार प्रति मास औसत मजदूरी

मजदूरों का वर्ग	अकबर का शासनकाल	जहांगीर का शासनकाल	1895	1953
गुलाम	34	—	—	—
खेतों पर काम करने वाले अकुशल मजदूर	67	87	24	48
चौकीदार, शहरी मजदूर	101	131	32	55
बढ़ई	203	262	57	82
श्रेष्ठ कुशल कामगार	236	284	78	97
उच्च पदस्थ कर्मचारी वर्ग	—	400	—	—

"यदि हम अपना अध्ययन बहुत पहले के समय के लिए भी करें तो हमें और अधिक महत्वपूर्ण परिणाम मिलेंगे। मोरलैंड का यह मत था कि सोलहवीं शताब्दी में वास्तविक आय लगभग उतनी थी जितनी कि पांचवीं शताब्दी में। लेकिन डॉ० प्रेमनाथ ने अपनी पुस्तक 'ए स्टडी आफ द इकनॉमिक कंडीशन्स ऑफ एनशिएंट इंडिया' में ग्यारहवीं शताब्दी की वार्षिक मजदूरी के बारे में लिखा है जो कई कामगारों को दी जाती थी और जिन्हें कलाम में मापा जाता था। प्रति कलाम $3\frac{1}{2}$ मन मोटा चावल होता था अथवा 40 ओरिएंटल यूनिट। यदि इसकी गणना की जाए तो ओरिएंटल यूनिट में प्रति मास औसत मजदूरी इस प्रकार है :

तालिका 2

ओरिएंटल यूनिट में औसत प्रति मास मजदूरी

कामगारों का वर्ग	मजदूरी
अकुशल मजदूर	130
नाई	170
बढ़ई का सहायक	250
कुशल मजदूर	330
जौहरी और कुशल बढ़ई	500
प्रशासन क्षेत्र के कर्मचारी	670

जहांगीर के शासनकाल की वास्तविक मजदूरी से कहीं अधिक यह मजदूरी है। यह परिणाम किसी भी प्रकार से असंभाव्य नहीं है। (देखिए अध्याय 7, 'किसान का शोषण')"

आगामी दो तालिकाएं श्री मोनी मुकर्जी की पुस्तक 'नेशनल इन्कम ऑफ इंडिया : ट्रैन्ड्स एन्ड इस्ट्रक्चर' (मैसर्स इस्टैटिस्टिकल पब्लिशिंग सोसाइटी-203, बैरकपुर ट्रक रोड, कलकत्ता-35, पृष्ठ-61) से ली गई हैं जिनसे सन् 1857 से लेकर सन् 1947 तक जब विदेशियों ने हमारे देश की सत्ता छोड़ी उसके लगभग सात वर्षों बाद तक भारतीय अर्थव्यवस्था की स्थिति का ज्ञान होता है। तालिका 3 से यह ज्ञात होता है कि हमारे देश में 1948-49 की कीमतों (सेवाओं या तृतीयक क्षेत्रक की आय शामिल करते हुए) के आधार पर प्रति व्यक्ति आय में 1860 में 169 रुपए से लेकर सन् 1900 में 200 रुपए तक बढ़ी और सन् 1930 में यह 261 रुपए हो गई थी। आय का यह स्तर एक दशाब्दी (1925-35) तक स्थायी रहा। चौथी दशाब्दी के अंत में कुछ ही समय में यह बढ़कर 1950 में 254 के स्तर पर पहुंच गई।

तालिका 3

1948-49 की कीमतों के अनुसार भारत की प्रति व्यक्ति औसत आय (अथवा 1948-49 में रुपए की क्रय शक्ति के मूल्य के आधार पर) जो 1860-1955 के नौ-नौ वर्षों की अवधि में परस्पर व्यापी आय के अनुसार आकलित है।

अवधि	प्रमुख सन्	प्रति व्यक्ति आय (1948-49 रुपयों में)
1	2	3
1857-63	1860 (7 वर्ष)	169
1861-69	1865	169
1866-74	1870	172
1871-79	1875	177
1876-84	1880	197
1881-89	1885	216
1886-94	1890	204
1891-99	1895	201
1896-1904	1900	199
1901-09	1905	203
1906-14	1910	220
1911-19	1915	241
1916-24	1920	253
1921-29	1925	261

(क्रमशः)

1	2	3
1926-34	1930	260
1931-39	1935	260
1936-44	1940	265
1941-49	1945	255
1946-54	1950	253
1952-58	1955 (7 वर्ष)	275

तालिका 4 में सन् 1860-1962 की अवधि और उसकी उप-अवधियों के दौरान भारत में राष्ट्रीय आय, जनसंख्या और प्रति व्यक्ति आय की संवृद्धि-दरों को दिखाया गया है।

तालिका 4

अलग-अलग उप-अवधियों में बढ़ती हुई संवृद्धि-दरें

अवधि	वर्षों की संख्या	संवृद्धि की वार्षिक ज्यामितीय दर		
		1948-49 की कीमतों पर आधारित राष्ट्रीय आय	जनसंख्या	1948-49 की कीमतों पर आधारित प्रति व्यक्ति आय
1	2	3	4	5
1860-1900	40	0.90	0.50	0.40
1900-1950	50	1.32	0.84	0.48
1860-1950	90	1.15	0.70	0.45
1865-1885	20	1.76	0.53	1.23
1905-1925	20	1.73	0.44	1.29
1948-1962	14	3.07	1.95	1.12

ऊपर बताए गए आंकड़ों से जो दो प्रमुख निष्कर्ष निकलते हैं, उनका सारांश इस प्रकार है :

(i) इस पूरी अवधि में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय की संवृद्धि-दर कम रही है और वह प्रतिवर्ष 0.5 प्रतिशत से भी कम है। इसी हिसाब से लगभग 140 वर्षों में प्रति व्यक्ति आय दुगुनी हो जाएगी। इस पूरी अवधि में राष्ट्रीय आय की संवृद्धि-दर प्रति वर्ष 1.15 प्रतिशत थी जबकि प्रतिवर्ष जनसंख्या की वृद्धि-दर 0·70 रही।

(ii) सन् 1865-85 में प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि की दर (1.23) और 1905-25 में (1.29) रही जो अभी हाल ही की दरों (1.12) की अपेक्षा कहीं अधिक थीं लेकिन अभी हाल ही में राष्ट्रीय आय की संवृद्धि-दर उस अवधि में प्रचलित दरों की तुलना में कहीं अधिक है। इसका कारण यह है कि संवृद्धि की उच्च दर की दोनों अवधियां उल्लेखनीय थीं, प्रथम, धारित कृषि-विस्तार के कारण और द्वितीय जनसंख्या की वृद्धि में कम दर होने के कारण सन् 1865-85 में प्रतिवर्ष 0.53 प्रतिशत और सन् 1905-25 में प्रतिवर्ष 0.44 प्रतिशत रहीं जबकि 14 वर्षों अर्थात् सन् 1948-62 के दौरान जनसंख्या की वृद्धि की दर प्रतिवर्ष 1.95 प्रतिशत अधिक रही।

तालिका 5 में देश में स्वातंत्र्योत्तर अवधि के दौरान की गई प्रगति के वित्ररण दिए गए हैं।

तालिका 5

स्वातंत्र्योत्तर अवधि में आर्थिक प्रगति

(1970-71 की कीमतों के आधार पर करोड़ रुपयों में)

वर्ष	फैक्ट्री लागत पर निवल राष्ट्रीय उत्पाद	प्रति व्यक्ति निवल राष्ट्रीय उत्पाद	निवल राष्ट्रीय उत्पाद के सूचकांक	प्रति व्यक्ति वास्तविक राष्ट्रीय उत्पाद के सूचकांक
1	2	3	4	5
1950-51	16731	466.0	100.0	100.0
1951-52	17086	468.1	102.1	100.4
1952-53	17699	475.8	105.8	102.1
1953-54	18854	487.5	112.7	106.8
1954-55	19328	500.7	115.5	107.4
1955-56	19953	507.7	119.3	108.9
1956-57	21046	524.8	125.8	112.6
1957-58	20587	503.3	123.0	108.0
1958-59	22329	534.2	133.5	114.6
1959-60	22676	532.3	136.5	114.2
1960-61	24250	558.8	144.9	119.9
1961-62	25039	563.9	149.7	121.0
1962-63	25414	559.8	151.9	120.1
1963-64	26746	576.4	159.9	123.7
1964-65	28808	607.8	172.2	130.4

(क्रमशः)

1	2	3	4	5
1965-66	27103	558.8	162.0	119.9
1966-67	27298	551.5	163.2	118.3
1967-68	29715	587.3	177.6	126.0
1968-69	30513	589.1	182.4	126.4
1969-70	32408	612.6	193.7	131.5
1970-71	34235	632.8	204.6	135.8
1971-72	34715	626.6	207.5	134.5
1972-73	34191	604.1	204.4	129.6
1973-74	35967	621.2	215.0	133.3
1974-75	36411	616.1	217.6	132.2
1975-76	40411	662.4	239.1	142.1
1976-77	40534	658.0	242.3	141.2
1977-78	43857	697.2	262.1	149.6
1978-79*	45637	712.0	272.8	152.8

वार्षिक संवृद्धि-दरें

पहली योजना अवधि	3.6	1.7
दूसरी योजना अवधि	4.0	2.0
तीसरी योजना अवधि	2.2	—
तीन वार्षिक योजनाओं की अवधि (1966-67 से 1968-69)	4.0	1.8
चौथी योजना अवधि	3.4	1.1
1974-75	1.2	(—)0.8
1975-76	9.9	7.5
1976-77	1.3	(—)0.7
1977-78	8.2	6.0
1978-79	4.1	2.1

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण 1979-80, तालिका 1.1.

जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि होने के बावजूद पूंजी-निर्माण, कृषि-उत्पादन और औद्योगिक उत्पादन की दरों में जो वृद्धियां हुई हैं वे आर्थिक आयोजना के प्रारंभ से किसी हद तक अपर्याप्त नहीं हैं । इसके फलस्वरूप सन् 1970-71 की कीमतों के आधार पर निवल राष्ट्रीय उत्पाद 1950-51 से 1977-79 की अवधि में 3·65 प्रतिशत प्रतिवर्ष

* तुरत आकलन

चक्रवृद्धि दर से बढ़ा है और निवल प्रति व्यक्ति उत्पादन की दर में 1.53 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। औद्योगिक और कृषि उत्पादन में वृद्धि होने के साथ-साथ रासायनिक और इंजीनियरी उद्योगों में भी आर्थिक आत्मनिर्भरता की ठोस नींव पड़ी है जो हमारे विदेशी व्यापार के संरचनात्मक परिवर्तनों में भी परिलक्षित होती है। तकनीकी और वैज्ञानिक कार्मिकों की संख्या में भी उत्साहवर्धक वृद्धि हुई है।

उपरोक्त लाभों के होते हुए भी हम संसार के निर्धनतम राष्ट्रों में से गिने जाते हैं : हम लोगों में से लगभग आधे लोग "निर्धनता रेखा" से भी नीचे स्तर पर रह रहे हैं। योजना के प्रारंभ काल से भारत में खाद्यानों का उत्पादन दुगुने से अधिक हो गया है लेकिन जनसंख्या की भारी वृद्धि हुई है और यह तथ्य भी है कि हमने बहुत ही निम्न स्तर से योजना प्रारंभ की थी, उसे देखते हुए कृषि-उत्पादन में वृद्धि हुई तो अवश्य है लेकिन वह हम लोगों के भरण-पोषण के लिए अपर्याप्त सिद्ध हुई है। इसलिए 1976 तक बाहर से खाद्यान्न का अधिकाधिक आयात किया गया। उद्योग में भी तेजी से वृद्धि हुई लेकिन इसके साथ ही साथ तेजी से झुग्गी-झोंपड़ियां भी बनती चली गईं। बेरोजगारी और अल्परोजगार ग्रामीण और शहरी दोनों में तीव्रगति से बढ़ रहा है और व्यक्तियों की आय में असमानता बहुत है, चाहे वह किसान हो या अन्य कोई कामगार। गांव और शहर में भारी खाई पैदा होती जा रही है। इसका अर्थ यह है कि जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, आर्थिक शक्ति कम से कम व्यक्तियों के हाथों में ही केन्द्रित होती जा रही है। कुछ लोग मलेरिया, तपेदिक, हैजा और चेचक से कालकवलित हो जाते हैं तो अधिकांश लोग भूख और कुपोषण के शिकार होकर मर जाते हैं। अंत में यह भी कहना है कि संसार के लोगों की तुलना में हम लोग सबसे अधिक निरक्षर हैं, 1970 के आंकड़ों के हिसाब से गांव के 75 प्रतिशत लोग और नगरों के 45 प्रतिशत लोग लिखना-पढ़ना नहीं जानते, हालांकि हमें राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त किए हुए दो दशाब्दियों से भी अधिक समय हो गया है। इसके साथ ही साथ 'डिग्री' प्राप्त लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है और साथ ही साथ बेरोजगारी और तीव्र गति से बढ़ रही है।

यद्यपि तीन सौ वर्ष पूर्व भारत की यूरोप से तुलना करना अधिक विषमता की द्योतक नहीं था लेकिन आज संसार में अपना देश यदि निर्धनतम नहीं है तो कम से कम बहुत ही निर्धन है। 1963-64 में प्रति व्यक्ति आय के हिसाब से भारत को सभी देशों में, अर्थात् (समस्त विकासशील देशों को मिलाकर) 85वां स्थान प्राप्त था। लगभग दस वर्ष बाद 'वर्ल्ड बैंक एटलस', 1975 के अनुसार हमारे देश का, चालू कीमतों पर प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद 120 डालर था और 1973 में और दस लाख से अधिक जनसंख्या वाले 125 देशों में इसका स्थान विश्व में 101 से 104वां हो गया था (श्रीलंका और पाकिस्तान की भी यही आय थी)। तीन वर्ष बाद अर्थात् 1976 में भारत खिसककर 111वें स्थान पर आ गया जबकि श्रीलंका और पाकिस्तान क्रमशः 103वें और 104वें स्थान पर ही बने रहे। इसके बाद के वर्ष 1977 में पांच देशों के आंकड़े उपलब्ध न हो सके, उस समय भारत 121 देशों में 106वें स्थान पर था और उसमें प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद 160 डालर था।

इस अध्ययन से यह विदित होगा कि 55 देशों में से 43 देश अफ्रीका महाद्वीप में स्थित थे जिनके पास यूरोपीय देशों से स्वामित्व प्राप्त करके स्वतंत्रता प्राप्त करते समय आधारिक संरचना थोड़ी थी या बिल्कुल नहीं थी। इनमें से अधिकांश देशों को 1947 के बाद स्वतंत्रता मिली है और वे सभी देश हमारे देश से आगे बढ़ गए हैं।

तालिका 6 में वर्ष 1977 के दौरान सकल राष्ट्रीय उत्पाद (स० रा० उ०) दिखाया गया है और वर्ष 1970-77 की अवधि के दौरान पच्चीस विकसित और छब्बीस विकासशील देशों में वास्तविक संवृद्धि-दरों को दिखाया गया है।

तालिका 6

बाजार की कीमतों के आधार पर प्रति व्यक्ति स० रा० उ० राशि (1977) और औसत वार्षिक वृद्धि-दरें (1970-77)

देश	प्रति व्यक्ति स० रा० उ० राशि 1977 (अमरीकी डालर)	प्रति व्यक्ति स० रा० उ० वास्तविक संवृद्धि-दर (%) 1970-77
1	2	3
1. कुवैत	12690	—0.9
स्विट्जरलैंड	11080	0.1
स्वीडन	9340	1.2
डेनमार्क	9160	2.3
अमरीका	8750	2.0
6. संघीय जर्मन गणतंत्र	8620	2.2
नार्वे	8570	3.9
कनाडा	8350	3.4
बेलजियम	8280	3.5
नीदरलैंड्स	7710	2.2
11. फ्रांस	7500	3.1
आस्ट्रेलिया	7290	1.6
सऊदी अरब	7230	13.0
लीबिया	6520	4.5
जापान	6510	3.6
16. आस्ट्रिया	6450	3.8
फिनलैंड	6190	2.8
लोकतंत्रीय जर्मन गणतंत्र	5070	4.9
यूनाइटेड किंगडम	4540	1.6
न्यूजीलैंड	4480	0.9

(क्रमशः)

1	2	3
21. चैकोस्लोवाकिया	4240	4.3
इजराइल	3760	2.0
इटली	3530	2.0
रूस	3330	4.4
25. पोलैंड	3290	6.3
96. हैती	230	2.1
मैडागास्कर	230	—2.7
अफगानिस्तान	220	2.7
बेनिन	210	0.5
तनजानिया	210	2.1
101. जैरे	210	—1.4
गिनी	200	2.5
पाकिस्तान	200	0.8
सीयरालियोन	200	—1.3
नाइजर	190	—1.8
106. भारत	160	1.1
रुआंडा	160	1.3
श्रीलंका	160	1.3
मालावी	150	3.1
बर्मा	140	1.3
111. मोजाम्बीक	140	—4.3
अपर वोल्टा	140	1.6
बरुण्डी	130	0.6
चड	130	—1.0
माली	120	1.9
116. सोमालिया	120	—1.1
ईथोपिया	110	0.2
नेपाल	110	2.4
भूटान	90	—0.3
लोकतंत्रीय लियो गणतंत्र	90	अनुपलब्ध
121. बंगलादेश	80	—0.2

स्रोत : विश्व बैंक एटलस, 1979

टिप्पणी :

1. ईरान, लैबीनॉन, कम्पूचिया (लोकतंत्र), युगांडा और विएतनाम से संबंधित कोई भी आकड़े उपलब्ध नहीं हैं।
2. विभिन्न देशों की प्रति व्यक्ति आय की तुलना सरकारी विनियम दरों के हिसाब से अमरीकी डालर में परिवर्तित करके की गई है। इस प्रयोजन के लिए यह तरीका पूर्ण नहीं है। विदेशी विनिमय दरें उस माल और सेवाओं को ही व्यक्त करती हैं जिनका विदेशी व्यापार

होता है जबकि कम आय वाले देशों में पैदा की जाने वाली वस्तुएं और सेवाएं (अमरीका जैसे देशों में ऊंची आय को देखते हुए ऐसी वस्तुओं और सेवाओं की तुलना की दृष्टि से) अपेक्षाकृत सस्ती होती हैं जबकि विदेशी व्यापार में यही वस्तुएं महंगी होती हैं। अतः अमरीकी डालरों में विदेशी विनिमय दरों के हिसाब से देश की राष्ट्रीय आय का मूल्यांकन वास्तविक आय से बहुत ही कम होता है। बावजूद इसके, अन्य कमियां चाहे कुछ भी क्यों न हों फिर भी यह तरीका सर्वोत्तम माना जाता है।

1979 के 'विश्व बैंक एटलस' में 178 देशों को निम्नलिखित पांच आय वर्गों में विभाजित किया गया है जिसके आधार वर्ष 1977 के लिए उपलब्ध जनसंख्या, राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय के आंकड़े हैं :

तालिका 7

आय वर्ग	देशों की संख्या	1977 के मध्य तक जनसंख्या	स० रा० उ० 1977 (डालर'000 दस लाख में)	प्रति व्यक्ति औसत आय 1977 अमरीकी डालर
200 डालर से कम	21	856	126	150
200 से 499 डालर तक	41	1413	535	380
500 से 1999 डालर तक	56	655	708	1080
2000 हजार से 4999 डालर तक	31	550	1864	3390
5000 और इससे अधिक डालर तक	29	572	4547	7950

अल्पतम आय वर्ग वाले देश इस प्रकार हैं : बंगलादेश, भूटान, बर्मा, बरुण्डी, केप वार्डे, चड, कामरॉस, ईथोपिया, गिनी—बिसाऊ, भारत, लोकतंत्रीय लाओ गणतंत्र, मालावी, मालदीव्ज, माली, मोजाम्बीक, नेपाल, नाइजर, रुआंडा, सुमालिया, श्रीलंका अपर वोल्टा।

हाल ही तक लोगों का यह विचार रहा है कि इस रंग-बिरंगी बटी हुई दुनिया में केवल तीन 'विश्व' हैं—प्रथम आपत्तिजनक धनवानों का, दूसरा मध्यवर्ग का और तीसरा निर्धनों का। लेकिन अब हमें बताया जाता है कि वास्तव में तीसरा विश्व दो विश्वों से मिलकर बना है। इसी के अन्दर एक चौथा विश्व है जो 'अत्यधिक गंभीर रूप से निर्धन' है। भारत को बेहिचक चौथे विश्व में गिना जा सकता है। इस चौथे विश्व में ऐसे देश शामिल हैं जिनकी प्रति मास प्रति व्यक्ति आय 10 डालर से भी कम है।

इसकी तुलना में 1979 में विश्व बैंक ने जो अध्ययन किया है, उसके अनुसार ब्रिटेन और आस्ट्रेलिया में बेरोजगार व्यक्तियों को प्रतिमास औसतन क्रमशः 1,160 रु०

और 4,320 रुपए की राशि बेकारी अनुदान के रूप में दी जाती है। अमरीका अपने निर्धन नागरिकों को खाद्यान्न के कूपन बांटता है।

विश्व की कुल लगभग चार अरब जनसंख्या में से 3,500 लाख लोग ऐसे हैं जो बिल्कुल ही निराश्रित हैं और जिनके रहने के लिए मकान तक नहीं हैं और जो सड़कों की पटरियों और पुलों पर रहते हैं और जिन्हें अपना पेट कूड़ेदानों और कूड़े के ढेरों से खाद्यान्न बीनकर भरना पड़ता है। और अधिकांश इस प्रकार के निराश्रित व्यक्ति भारतीय उपमहाद्वीप में ही रहते हैं।

आस्ट्रेलिया में एक ट्रक ड्राइवर को जो 22 व्हील का सौ टनर चलाता है, उसे 400 आस्ट्रेलिया डालर (लगभग 4,400 रुपए) प्रति सप्ताह मिल सकता है, जबकि उसी प्रकार के ट्रक ड्राइवर को भारत में बड़ी कठिनाई से प्रति ट्रिप 40 रुपए से 80 रुपए तक की राशि मिल पाती है।

भारत में क्लर्कों और तकनीकी कार्यों में रत व्यक्तियों की मजदूरी दरें लगभग उतनी ही हैं जितनी इंग्लैंड अथवा आस्ट्रेलिया में सड़क निर्माण अथवा खाइयों की खुदाई करने वाले मजदूरों की हैं। भारत में पत्रकारों अथवा डाक्टरों को उतना ही मिलता है जितना इंग्लैंड अथवा आस्ट्रेलिया में नलकार अथवा भवन निर्माताओं को मिलता है। इस प्रकार इंग्लैंड और आस्ट्रेलिया की एक फैक्टरी में एक मजदूर को एक घंटे के काम के रूप में जो राशि मिलती है, उतनी राशि भारत के मजदूर को एक सप्ताह में काम करने पर मिल पाती है।

इस अध्ययन से यह विदित होता है कि कीमत के अनुसार भारतीय शहर संसार के सबसे अधिक 10 महंगे शहरों में गिने जाते हैं। सन् 1979 मॉडल की कार आस्ट्रेलिया में 6,000 डालर (60,000 रु०) में कर सहित मिल जाती है जबकि भारत में भारतीय व्यापार निगम द्वारा नीलाम की गई इसी मॉडल की पुरानी कार 1,25,000 रु० से कम में नहीं मिल पायेगी।

औसतन एक भारतीय सफेद पोश व्यक्ति प्रति वर्ष 12,000 रु० से 24,000 रु० कमा पाता है और वह अपने सारे जीवन में इतना ही बचा पाता है कि वह भारत की बनी एक छोटी कार खरीद सके, जबकि आस्ट्रेलिया में उसी वर्ग का व्यक्ति दो वर्षों में ही एक अच्छी कार खरीद लेता है।

इसी प्रकार अमरीका और आस्ट्रेलिया के किसी भी शहर में एक व्यक्ति पैंट, कमीज और अन्य कपड़े 10 डालर (100 रु०) से लेकर 60 डालर (600 रु०) तक खरीद सकता है। जबकि भारत में इसी प्रकार के कपड़े 100 रु० और 150 रु० में खरीदे जा सकते हैं जो एक अकुशल मजदूर की 15 दिन की मजदूरी होती है जबकि आस्ट्रेलिया के मजदूर अपनी दो घंटे की मजदूरी में इतने ही कपड़े खरीद सकता है। रिपोर्ट में यह भी बताया गया है कि अमरीका और आस्ट्रेलिया में किसी भी भोजनालय में दो डालर में स्वच्छ और बगैर मिलावट का शुद्ध भोजन मिल सकता है जो आस्ट्रेलिया और अमरीका के मजदूर की एक घंटे की मजदूरी है जबकि भारत के निर्माणकार्य में लगी हुई अकुशल महिला मजदूर को दिन भर काम करने पर पेट भर भोजन ही किसी

ढाबे में मिल सकेगा।

पेट्रोलियम उत्पादों की बढ़ती हुई कीमतों के फलस्वरूप व्यापार घाटों के कारण भारत की दशा में अधिक गिरावट आती जाती है।

चीन ने विकास की दिशा में उसी समय बढ़ना शुरू किया जब हमने बढ़ना शुरू किया था। वहां निर्धनता, बेरोजगारी और धनी तथा निर्धन के बीच विस्तृत खाई ही नहीं थी बल्कि उपलब्ध भौतिक संसाधन भी उसी प्रकार के थे। यद्यपि चीन में प्रति व्यक्ति कृषि योग्य जमीन बहुत कम है फिर भी भारत की अपेक्षा कृषि योग्य भूमि के लिए अपेक्षाकृत अधिक संसाधन हैं। भारत में अपेक्षाकृत अधिक लोहा है जब कि चीन में अपेक्षाकृत अधिक कोयला है। वास्तव में भारत चीन से आगे ही था। हमारा जीवन स्तर भी अधिक अच्छा था। औद्योगिक रूप से हम कहीं अधिक अच्छे थे और राजनीतिक नेताओं तथा आर्थिक आयोजकों ने यह बताया है कि हमें सभी स्रोतों से तकनीकी और आर्थिक सहायता उपलब्ध हो रही थी। चीन को प्रारंभिक अवस्था में एकमात्र स्रोत रूस पर ही निर्भर होना पड़ा था। लेकिन आज चीन के लोग अपेक्षाकृत अच्छा खाते हैं, अच्छा पहनते हैं और अच्छे घरों में रहते हैं जबकि भारतीयों की यह स्थिति नहीं है (चीन में 1970 में प्रति व्यक्ति आय 410 डालर थी जबकि इसकी तुलना में भारत में 160 डालर थी) और यदि हम यह कहें कि चीन ने हमसे आगे तरक्की की है तो हमारे देश में कहने वाले को देशद्रोही समझा जाता है। विश्व की कुछेक राजधानियों में चीन के अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण नेताओं को भारत के शीर्षस्थ नेताओं की तुलना में अधिक आदर दिया जाता है।

आगामी दशाब्दी में और इस शताब्दी के अंत तक लाखों भारतीयों के भाग्य में क्या है? विश्व बैंक ने 1979 की विश्व विकास रिपोर्ट अभी हाल ही में प्रदर्शित की है। इस रिपोर्ट में दिए गए इस कथन पर शायद ही आश्चर्य हो कि निम्न आय वर्ग के देशों के भविष्य 'विशेष धुंधले' हो गये हैं और अब घोर निर्धनता से भारत में 45% लोग आक्रान्त हैं। इन व्यक्तियों का शायद ही उत्थान हो सकेगा चाहे इनके प्रतिशत में कमी क्यों न हो जाय। इस अध्ययन से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि अनेक कम आय वर्ग के विकासशील देशों को, जिनमें भारत भी शामिल है, राजनीतिक स्थायित्व को बनाए रखने में कठिनाई होगी, यदि निर्यातों की क्रय शक्ति कम होने के कारण आन्तरिक आर्थिक स्थिति में गिरावट आती है।"

मुख्यतया कृषि में सतत सुधार के कारण भारत में 1970-78 की अवधि में यह स्थिति अधिक खराब नहीं थी। कृषि उत्पादनों की अधिक कीमतें पाने के फलस्वरूप किसानों को अधिक आय हुई है, छोटे पैमाने पर सिंचाई का विस्तार हुआ है और इस अवधि में अच्छे मौसम के फलस्वरूप उत्पादन में काफी वृद्धि हुई है। जैसाकि रिपोर्ट में बताया गया है कि 1979-80 में भयंकर भारी सूखा पड़ा जिसके फलस्वरूप उत्पादन में केवल 8 से 9 प्रतिशत की कमी हुई "लेकिन यह फसल तीसरी बड़ी फसल थी जो

1973-74 की अपेक्षा 20 प्रतिशत अधिक रही जबकि इसी प्रकार का भयंकर सूखा उस समय पड़ा था ।

गत दशाब्दी की तुलना में 1971 से 1980 तक के समय में अपेक्षाकृत अधिक तीव्रता से कृषि उत्पादन बढ़ा है जिसके फलस्वरूप भारत में सकल घरेलू उत्पाद पहले से अधिक था । लेकिन जनसंख्या की अधिक वृद्धि के कारण निम्न आय वर्ग के अल्प विकसित देशों की तुलना में प्रति व्यक्ति आय में बहुत कम सुधार हो पाया । अन्य शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि विश्व आय लीग में भारत का स्थान बहुत पीछे होता गया ।

उद्योग में भारी कमी होने पर भी भारत ने 1970-78 की अवधि में 6 प्रतिशत वास्तविक संवृद्धि हासिल कर ली जबकि 1961 से 1970 तक 3 प्रतिशत की वृद्धि रही थी । कुल निर्यात में मुख्य माल का अंश कम होता जा रहा था, इसका स्पष्टतया अर्थ यह था कि विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि होती गई। 1977 में निर्यात में विनिर्मित वस्तुओं का 56 प्रतिशत अंश था ।

यह संतोष की बात है । लेकिन भारत की विनिर्माण क्षेत्र की प्रगति की तुलना विकासशील देशों के उसी वर्ग से की जाय तो यह विदित होता है कि उद्योग आरंभ करते समय के प्रारंभिक अवसरों का लाभ नहीं उठाया गया था । वर्ष 1970 और 1976 के मध्य की अवधि में विनिर्माण के मूल्यों में ब्राजील में 92 प्रतिशत और मैक्सिको में 41 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इन दोनों देशों का आकार काफी बड़ा है । आकार में छोटे निर्यातोन्मुख देशों की अर्थव्यवस्थाओं में यह गति और अधिक, यथा—दक्षिण कोरिया में वृद्धि 274% थी । इसकी तुलना में भारत में यह 26 प्रतिशत है जो कि निराशाजनक है ।

कम विकसित देशों में भारत 1970 में अपने विनिर्माण क्षेत्रक के आकार की दृष्टि से चौथा माना जाता था । केवल आकार में सबसे बड़े ब्राजील को छोड़कर, जो कि 1970 में भारत से 40% आगे था और 1976 में 114% आगे हो गया । इसके सिवाय स्थिति ज्यों की त्यों बनी रही । गत चार वर्षों में भारत की विनिर्माण क्षमता की गति बहुत ही धीमी रही है और यह अन्तर कहीं अधिक होता गया है ।

उपभोग स्तर

जबकि प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय जनता की खुशहाली जानने का एक संक्षिप्त उपयोगी साधन है तब प्रति व्यक्ति निजी उपभोग व्यय जनता के रहन-सहन का स्तर अथवा खुशहाली बताने के लिए अपेक्षाकृत सीधा साक्ष्य है । दूसरे प्रकार के आंकड़े दो उपायों से निकाले जा सकते हैं । पहला, अंकगणितीय परिकलन के जरिये, अर्थात् निर्यात के मूल्य को निवल राष्ट्रीय उत्पाद में जोड़कर; और उसके बाद योग में से आयात के कुल मूल्य, शुद्ध घरेलू पूंजी-निर्माण और सरकारी उपभोग व्यय को घटाकर। इस प्रकार वर्ष 1960-61 में हमारे देश के निजी उपभोग व्यय की गणना की गई है । इन आंकड़ों को जनसंख्या के आंकड़ों से भाग देने पर प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति निजी व्यय 276.3 रुपए

(अथवा प्रति व्यक्ति प्रतिदिन 75.7 पैसे) आता है जबकि 1960-61 में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय 306.3 रुपए थी।

दूसरे, निजी उपभोग व्यय के आंकड़े निकाले जा सकते हैं। बेतरतीब नमूना सर्वेक्षण से सीधे ही पूछताछ करने से स्थिति ज्ञात हो सकती है जैसा कि राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण करता है। इस प्रकार जो आंकड़े उपलब्ध हुए हैं वे वास्तविकता के अधिक समीप होते हैं। 1960-61 में राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण ने प्रति व्यक्ति निजी उपभोग व्यय का अनुमान 278.8 रुपए लगाया था जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं और जैसा कि एक अंकगणितीय परिकलन के अनुसार 276.3 रु० आता है। जब ये दोनों प्रकार के आंकड़े एक से अथवा लगभग एक जैसे हों, जैसा कि इस मामले में स्पष्ट है, तब हमें यह मान लेना चाहिए कि हम किसी सुस्पष्ट आंकड़े पर पहुंच गए हैं।

राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के अनुमानों के अनुसार, जैसा कि तालिका 8 में दिखाया गया है, 1960-61 में ग्रामीण जनसंख्या का प्रति व्यक्ति निजी उपभोग व्यय 261.2 रु० था जबकि शहरी जनसंख्या का 359.2 रु० था। इस प्रकार शहरी जनसंख्या का प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय ग्रामीण जनसंख्या की अपेक्षा लगभग 37.7 प्रतिशत अधिक रहा। फिर इसका अर्थ यह नहीं है कि शहरी जनसंख्या औसत रूप में ग्रामीण जनसंख्या से कहीं अधिक सुखी थी।

जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा कतिपय उपभोक्ता वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें अधिक हैं, फिर भी कतिपय ऐसी वस्तुएं भी हैं जिनकी कीमतें शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में कम हैं।

तालिका 8

1960-61 में प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय के आधार पर जनसंख्या का वितरण

मासिक प्रति व्यक्ति व्यय	ग्रामीण		शहरी	
वर्ग	औसत वार्षिक प्रति व्यक्ति व्यय	जनसंख्या का प्रतिशत	औसत वार्षिक प्रति व्यक्ति व्यय	जनसंख्या का प्रतिशत
1	2	3	4	5
रुपए	रुपए		रुपए	
0-8	79.3	6.38	77.6	2.15
8-11	116.6	11.95	118.3	2.49
11-13	147.2	9.88	145.0	7.19
13-15	170.8	9.82	169.7	6.86
15-18	200.0	13.79	201.2	10.71
18-21	237.3	11.44	235.7	11.40
21-24	273.4	9.03	271.7	9.68

(क्रमशः)

1	2	3	4	5
24-28	313.0	7.72	315.4	11.03
28-34	375.1	7.66	373.6	9.34
34-43	460.8	5.93	464.0	9.61
43-55	583.3	3.12	592.3	7.04
55 और ऊपर	1005.1	3.28	1032.5	9.50
सभी वर्ग	261.2	100.00	359.2	100.00

ऊपर के आंकड़ों से यह विदित होगा कि 1960-61 में हमारी जनसंख्या के लगभग दो-तिहाई भाग के लोग ग्रामीण (63.26 प्रतिशत) और शहरी (64.51 प्रतिशत) दोनों ही क्षेत्रों में राष्ट्रीय औसत से निम्न स्तर पर रह रहे थे। वे 237.3 रुपए का वार्षिक व्यय (66 पैसा प्रतिदिन) कर रहे थे जबकि इसकी तुलना में राष्ट्रीय औसत 261.2 रुपए (ग्रामीण) था, और शहरी क्षेत्र में 315.4 रुपए (88 पैसा प्रतिशत) से कम का व्यय कर रहे थे जबकि इसकी तुलना में राष्ट्रीय औसत 359.2 रुपए (शहरी) था। इसके अलावा शहरों के 2.15 प्रतिशत लोग और ग्रामों के 6.38 प्रतिशत लोग औसत रूप से 22 पैसे प्रतिदिन में गुजारा कर रहे थे। कुछ राजनीतिक नेताओं ने इस दुःख को अपनी आंखों से देखा है या यह महसूस किया है कि इस राशि से एक कुत्ते का भी जीवन नहीं चल सकता जबकि 1960-61 में ऐसी ही राशि पर हमारे देश के 240 लाख लोग गुजर कर रहे थे।

वी० एम० डांडेकर और नीलकंठ रथ ने अपनी पुस्तक 'पावर्टी इन इंडिया' में कतिपय आंकड़े दिए हैं। यह पुस्तक इंडियन स्कूल ऑफ पॉलिटिकल इकनॉमी—पूना के तत्वावधान में फोर्ड फाउंडेशन के परामर्श से तैयार की गई थी। ऊपर दी गई तालिका इसी पुस्तक से ली गई है। 1960-61 में ग्रामीण क्षेत्रों में 170 रुपए का वार्षिक प्रति व्यक्ति व्यय पर्याप्त खुराक देने के लिए आवश्यक था जिससे कि प्रति व्यक्ति को प्रतिदिन 2.250[2] कैलोरी मिल सकती थी जैसाकि संयुक्त राष्ट्र के खाद्य और कृषि संगठन के पोषण तत्वों के विशेषज्ञों ने अनुमान लगाया है। जहां तक शहर के निवासियों का संबंध है, ग्रामीण परिवार के सदस्यों के लिए सुलभ पोषक तत्व उन्हीं व्यक्तियों के लिए उपलब्ध किए जा सकते थे जो प्रति वर्ष 271.7 रुपए व्यय कर सकते थे जबकि उनका वार्षिक व्यय 170 रुपए था।

योजना आयोग ने 20 रुपए प्रति व्यक्ति प्रति मास अथवा 240 रु० प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष (1960-61 की कीमतों के आधार पर) न्यूनतम वांछनीय उपभोग मानक स्वीकार किया है। ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के रहन-सहन के स्तर की लागत

2. इस आंकड़े की तुलना अमरीका के लिए 2,640-2,650 कैलोरी और स्वीडन तथा नार्वे के लिए 2,840-2,850 कैलोरी से की जा सकती है। भारत में जैव खाद्य आवश्यकताएं शीतोष्ण कटिबंध की अपेक्षा कहीं कम हैं और शीतोष्ण कटिबंध की आवश्यकताएं शीत कटिबंध की अपेक्षा कम हैं।

के अंतर को ध्यान में रखते हुए वी० एम० डांडेकर और नीलकंठ रथ ने ग्रामीण क्षेत्रों की जनसंख्या के लिए न्यूनतम 180 रु० प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष और शहरी जनसंख्या के लिए 270 रु० प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष का अनुमान लगाया है जो 1960-61 की कीमतों पर आधारित है। इन न्यूनतम राशियों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने यह गणना की कि 1960-61 में ग्रामीण जनसंख्या का लगभग 40 प्रतिशत और शहरी जनसंख्या का लगभग 50 प्रतिशत भाग न्यूनतम वांछनीय उपभोग के स्तर से नीचे ही रह जाता था।

इस शताब्दी के सातवें दशक के मूल्यांकन का समग्र रूप से निष्कर्ष निकालते हुए डांडेकर और रथ ने बढ़ती हुई निर्धनता पर निम्न शब्दों में विचार व्यक्त किए हैं :

> "गत दशाब्दी में प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय प्रति वर्ष आधे प्रतिशत से भी कम बढ़ा है। इसके अलावा छोटे-छोटे लाभ भी जनसंख्या के सभी वर्गों में समान रूप से वितरित नहीं किए गए हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के सबसे गरीब 20 प्रतिशत लोगों की दशा लगभग स्थिर रही है। शहर के सबसे गरीब 20 प्रतिशत लोगों की दशा निश्चय ही गिरी है और शहर के 20 प्रतिशत गरीब लोगों की दशा स्थिर रही है। इस प्रकार ग्रामीण निर्धनता वैसी ही बनी हुई है जैसी कि पहले थी लेकिन शहरी निर्धनता और बढ़ती गई है। इसका कारण यह है कि ग्रामीण क्षेत्रों के निर्धन लोग आजीविका के लिए शहरी क्षेत्रों में लगातार आते रहे हैं और वे अपने भरण-पोषण के लिए पर्याप्त साधन पाने में असफल रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप लोग शहरों में सड़कों के किनारे बस गए हैं। और नई बस्तियों की संख्या में वृद्धि हुई है।"

बाद में एक अध्ययन किया गया जिसे 1973 में 'इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली' के वार्षिक विशेषांक में प्रकाशित किया गया। यह अध्ययन राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के आंकड़ों पर आधारित है। इस अध्ययन में डांडेकर और रथ दारा सुझाए गए रहन-सहन के न्यूनतम स्तर के मानकों के अनुसार प्रणब के० वर्धन ने यह अनुमान लगाया है कि रहन-सहन के न्यूनतम स्तर से कहीं अधिक नीचे ग्रामीण जनसंख्या का प्रतिशत 1960-61 में 38 प्रतिशत से बढ़कर 1968-69 में 54 प्रतिशत हो गया है और शहरी गरीब लोग 34 प्रतिशत से बढ़कर 46 प्रतिशत हो गए हैं। यदि इस अध्ययन के अनुसार कुल आंकड़े निकाले जाएं तो यह विदित होगा कि रहन-सहन के न्यूनतम स्तर की ग्रामीण जनसंख्या लगभग 13.5 करोड़ से बढ़कर लगभग 23 करोड़ तक हो गई है।

9 अगस्त, 1972 को लोकसभा में एक प्रश्न के उत्तर में भूतपूर्व योजना राज्य मंत्री ने यह स्वीकार किया था कि उपभोग के आधारभूत न्यूनतम स्तर से नीचे रहने वाले लोगों की संख्या (ऐसा उपभोग के 1960-61 की कीमतों के आधार पर 20 रु० से कम था और 1972-73 की कीमतों के आधार पर प्रतिमास 45 रुपए था) उस समय लगभग उतनी ही थी जितनी कि दो दशाब्दियों पूर्व थी और घोर निर्धनता में रहने

वाले लोग भारतीय जनसंख्या के लगभग आधे थे। उन्होंने यह भी कहा कि गरीब लोगों को न्यूनतम उपभोग स्तर प्राप्त करने में अभी कम-से-कम 30 से 50 वर्ष लगेंगे।

हाल में योजना आयोग के सदस्य डॉ० बी० एस० मिन्हास[3] ने यह अनुमान लगाया है कि ग्रामीण जनसंख्या गरीबी स्तर से भी कहीं नीचे के स्तर पर है। उनका यह अनुमान दो याहच्छिक अध्ययनों पर आधारित है लेकिन उनके मत में रहन-सहन के न्यूनतम उपभोग स्तर के विश्वसनीय आंकड़े हैं, यथा—240 रुपए और 200 रुपए। इस तथ्य को निम्न तालिका में दिखाया गया है।

तालिका 9

न्यूनतम रहन-सहन के स्तर से नीचे रह रहे लोगों की संख्या और प्रतिशतता—ग्रामीण भारत

वर्ष	1960-61 की कीमतों के हिसाब से प्रतिवर्ष 240 रु० से कम		1960-61 की कीमतों के हिसाब से प्रतिवर्ष 200 रु० से कम	
	प्रतिशतता	दस लाख में	प्रतिशतता	दस लाख में
1956-57	65.0	215	52.4	173
1957-58	63.2	212	50.2	169
1960-61	59.4	211	46.0	164
1961-62	56.4	206	43.6	159
1963-64	57.8	221	44.2	169
1964-65	51.6	202	39.3	154
1967-68	50.6	210	37.1	154

डॉ० मिन्हास ने अपने अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं :

1. इस शताब्दी के छठे दशक के मध्य और 1967-68 के बीच गरीबी स्तर से नीचे रह रहे लोगों के स्तर में स्पष्टतया किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं हुआ;
2. अच्छी फसल के वर्षों में उनकी संख्या में कमी हुई है लेकिन खराब फसलों के वर्षों में उनकी संख्या में बहुत वृद्धि हुई है;

3. देखिए, आकाशवाणी कमेंट्री, 20 अगस्त 1972 और प्लानिंग एंड द पुअर, एस० चांद एंड कंपनी (प्राइवेट) लिमिटेड, 1974, पृ० 103.

3. इस शताब्दी के छठे दशक के मध्य और 1967-68 के बीच गरीबी स्तर से नीचे रह रहे लोगों के अनुपात में शनैः-शनैः लेकिन स्थिर रूप से कमी हुई है। इससे यह विदित होता है कि गरीबी रेखा की जो दो परिभाषाएं दी गई हैं, उनमें से किसी न किसी परिभाषा के अनुसार स्थिति विद्यमान है।

डॉ० मिन्हास ने यह निष्कर्ष निकाला है—"सारांश में, योजनाबद्ध आर्थिक विकास की दो दशाब्दियों में ग्रामीण जनता के लगभग 2/5 लोग घोर निर्धनता में रह रहे हैं।"

साठ वर्षों से अधिक समय पूर्व 1917 में महात्मा गांधी बिहार प्रांत के चम्पारन जिले के ग्रामीण भागों में यह अध्ययन करने के लिए गये थे कि नील की खेती करने वाले अंग्रेजों ने भारतीय किसानों को कितना सताया है। उन्होंने अपने मार्ग में यह देखा कि अनेक महिलाएं जो उन्हें देखने के लिए उस सड़क के किनारे खड़ी थीं, मैले कपड़े पहने हुए थीं और उनके पास दूसरे कपड़े भी नहीं थे ताकि वे अपने मैले कपड़े धो सकें अथवा नहाकर बदल सकें। यह स्थिति आज भी है। लेखक ने भी अपनी आंखों से एक बार नहीं अपितु सैकड़ों बार उत्तर प्रदेश के पूर्वी भागों और बिहार राज्य में युवा महिलाओं और लड़कियों को केवल एक ही कपड़ा अर्थात् धोती पहने हुए देखा है जिससे वे अपना तन ढक लेती हैं। यही प्रगति है जो स्वतंत्रता के तीस वर्ष बीत जाने पर हुई है और जिसके प्रति राजनीतिक नेता पूर्णतया संतुष्ट हैं। इतना ही नहीं, वे किसी परिवर्तन को लाने अथवा देश की उन वर्तमान आर्थिक नीतियों में परिवर्तन लाने की बात भी नहीं करेंगे जिन्होंने देश की दुर्दशा कर दी है। शायद इसका मुख्य कारण यह है कि उन्होंने स्वयं गरीबी का दुःख नहीं उठाया है।

हमारी प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने 8 दिसम्बर, 1972 को 'टाइम' पत्रिका के भेंटकर्ता से देश की गरीबी पर विचार करते हुए यह कहा कि "अमरीका में भी दयनीय गरीबी के क्षेत्र हैं।" यह कथन एक ऐसा प्रयास है जिसने भारत सरकार के पच्चीस वर्षों की अवधि में किए गए कार्यों की असफलता को संगत ठहराया है। 'गरीबी' एक सापेक्ष शब्द है। अमरीका में 'गरीब' वह व्यक्ति भी हो सकता है जो भारतीय स्तर के अनुसार 'धनी' व्यक्ति है। क्रस्ट्रोफर मेह्यू, संसद सदस्य ने अपनी पुस्तक 'पार्टी गेम्स' (हचिन्सन ऑफ लन्दन, 1969, पृष्ठ 144) में इंगलैंड की 'गरीबी' के संबंध में लिखते हुए कहा है : "नौटिंघम काउंसिल एस्टेट में गरीबी के रोचक अध्ययन से यह विदित हुआ है कि गरीबी में रहने वाले 22 प्रतिशत परिवार हैं लेकिन उन गरीब परिवारों में से 90 प्रतिशत परिवारों के पास टेलीविजन सैट हैं और 60 प्रतिशत परिवारों के पास कपड़ा धोने की मशीनें हैं।" जबकि भारत में

अभी हाल ही में किए गए सर्वेक्षण से यह पता लगा है कि 3,000 रुपए प्रति वर्ष से कम आय के 73 प्रतिशत लोगों के घरों में से केवल 15 प्रतिशत लोगों के पास बाइसिकिलें हैं, 3.5 प्रतिशत लोगों के पास रेडियो, 2.1 प्रतिशत लोगों के पास सिलाई की मशीनें तथा 1.3 प्रतिशत के पास बिजली के पंखे हैं।

इंगलैंड और अमरीका में बेरोजगार और विकलांगों को जिनकी 1969 में राष्ट्रीय आय प्रति व्यक्ति क्रमशः 1,513 डालर और 3,814 डालर थी, उन्हें कई लाभ और भत्ते दिए जाते हैं। इन देशों में संभवतः कोई ही व्यक्ति ऐसा होगा जो दयनीय रूप से गरीब हो और जिसके पास भोजन, कपड़ा या मकान का अभाव हो जबकि भारत में इन अभावों से ग्रस्त लोगों की प्रतिशतता बहुत अधिक है।

15 नवम्बर, 1980 को श्रीमती गांधी ने नई दिल्ली में 1976 के लिए हरिओम आश्रम ट्रस्ट पुरस्कार वितरण के अवसर पर कहा—"मैं अपना अधिक समय देश में यात्रा करने में बिताती हूं। विशेष रूप से गत तीन वर्षों में जब मेरे पास कोई सरकारी सवारी नहीं थी, मुझे कोई भी कुपोषण का उदाहरण नहीं मिला। वास्तव में बच्चे अधिक स्वस्थ दिखाई दिए। उनकी आंखें अधिक चमकीली थीं और वे अधिक अच्छे कपड़े पहने हुए थे।" (देखिए 'स्टेट्समैन', नई दिल्ली, दिनांक 16 नवम्बर, 1980)। अब इस निरीक्षण को शायद ही कोई झुठला सके। हमारी प्रधानमंत्री इतना साफ झूठ बोलने में लज्जित नहीं हैं। दिल्ली शहर में भी 26 प्रतिशत लोग गंदी बस्तियों में रहते हैं या गरीबी स्तर से बहुत ही नीचे हैं।

यद्यपि 'निर्धन' की परिभाषा की कसौटी न्यूनतम कैलोरी ग्रहण है, फिर भी निर्धनता रेखा में (मुद्रा मापदंड) विधिवत रूप से खाद्यान्न इतर जैसी मदों, यथा—कपड़ा और मकान भी उपभोग व्यय में शामिल किए जाते हैं।

कैलोरी की आवश्यकता पर आधारित गरीबी के विस्तार से वर्गीकरण के लिए यह जरूरी है कि व्यक्तियों के मध्य उनकी आवश्यकताओं की भिन्नता और एक ही व्यक्ति के लिए दिन-प्रतिदिन की भिन्नताओं की आवश्यकता पर ध्यान देना चाहिए यदि गरीबी रेखा का परिकलन पोषण के अनुसार सार्थक रूप से किया जाना है।

इसलिए इन कारकों पर ध्यान देते हुए योजना आयोग ने भारतीय जनसंख्या की संरचना के आयु-लिंग-व्यवसाय जैसी स्थिति पर विचार किया है और ऊर्जा आवश्यकताओं को पोषण विशेषज्ञ दल (1968) की सिफारिश पर निर्धारित किया है और इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों में प्रतिदिन प्रति व्यक्ति साधारण रूप में 2,400 कैलोरी और शहरी क्षेत्र में प्रतिदिन प्रति व्यक्ति को 2,100 कैलोरी मिलनी चाहिए।

घरेलू कामकाज में लगे हुए सभी व्यक्तियों को या तो गरीबी रेखा से नीचे

माना जाता है या ऊपर माना जाता है जिसका आधार निर्दिष्ट गरीबी स्तर से नीचे या ऊपर घरेलू वातावरण की दृष्टि से प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय है। वास्तव में यह स्थिति उन सभी व्यक्तियों के लिए सही नहीं है जो घरेलू वातावरण में रहते हैं और जिन्हें गरीबी रेखा से नीचे अथवा ऊपर वर्गीकृत किया जाता है।

इसकी सीमाएं होते हुए भी यही केवल उपलब्ध और उचित तरीका था।

योजना आयोग ने 1977-78 में गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की संख्या का अनुमान लगाया है जिसके अनुसार ऐसे लोगों की संख्या 30.6 करोड़ है अथवा कुल जनसंख्या के आधे से कुछ ही कम है। इससे यह विदित होता है कि देश की आर्थिक दशा वर्तमान दशाब्दी में गिरती गई है। आयोग ने यह गणना की है कि ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में इन लोगों की संख्या कुल जनसंख्या का क्रमश: 47.85 प्रतिशत और 40.71 प्रतिशत है। यह अनुमान 1976-77 की कीमतों के आधार पर दोनों ग्रुप में क्रमश: 61.80 रुपए और 71.30 रुपए (राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन के सर्वेक्षण पर आधारित) के प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय पर आधारित है। इन दोनों प्रतिशतों का औसत कुल जनसंख्या का 46.33 प्रतिशत है। यह एक ऐसा आंकड़ा है जिससे इस दशाब्दी के प्रारंभ में किए गए अनुमान की तुलना में 'न्यूनतम साधन वाले लोगों से' नीचे स्तर के लोगों की संख्या बढ़ी है। 1967-68 में ग्रामीण क्षेत्र के लगभग 40 प्रतिशत लोग अत्यन्त दयनीय गरीबी के वर्ग में सम्मिलित थे। दस वर्षों में 5 करोड़ व्यक्तियों से अधिक व्यक्ति दयनीय गरीबी के घेरे में आ गए हैं जो ग्रामीण क्षेत्रों में प्रतिदिन 2,400 कैलोरी से कम और शहरों और नगरों में 2,100 कैलोरी का उपभोग करते हैं। जैसाकि पूर्व अनुमान लगाया गया था उसके अनुसार आर्थिक संवृद्धि के लाभ नहीं मिल पाए हैं। इस स्थिति का कहीं ऊपर ही शोषण कर लिया गया जिसके फलस्वरूप अधिकांश लोग भूखे, आश्रयहीन, अशिक्षित, बीमार और निराश्रित हो गए, जबकि 30 वर्ष पूर्व ऐसी स्थिति न थी।

नीचे दी गई तालिकाओं में 1972-73 में दोनों ही ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की राज्यवार प्रतिशतता दिखाई गयी है।

तालिका 10

1972-73 में ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की राज्यवार प्रतिशतता

क्रमांक	राज्य	ग्रामीण क्षेत्र	शहरी क्षेत्र
1	2	3	4
1.	आंध्र प्रदेश	57.67	43.75
2.	आसाम	48.24	33.78
3.	बिहार	55.82	43.45
4.	गुजरात	43.88	34.03

(क्रमश:)

1	2	३	4
5.	हरियाणा	21.52	29.94
6.	हिमाचल प्रदेश	*	*
7.	जम्मू और कश्मीर	36.07	51.63
8.	कर्नाटक	52.33	45.79
9.	केरल	57.76	52.69
10.	मध्यप्रदेश	61.35	44.83
11.	महाराष्ट्र	53.94	34.32
12.	मणीपुर	24.73	24.25
13.	मेघालय	20.64	10.76
14.	नागालैंड	अनुपलब्ध	3.33
15.	उड़ीसा	71.01	43.38
16.	पंजाब	21.47	21.84
17.	राजस्थान	47.47	39.26
18.	तमिलनाडू	62.98	52.22
19.	त्रिपुरा	42.62	18.70
20.	उत्तर प्रदेश	52.96	51.59
21.	पश्चिमी बंगाल	64.00	35.86
22.	सभी संघीय क्षेत्र	37.55	26.73
	अखिल भारत (कुल)	54.09	41.22

*जांच-पड़ताल के अधीन।

टिप्पणी :

1. 1977-78 की कीमतों के आधार पर गरीबी रेखा ग्रामीण क्षेत्रों में 65 रुपए प्रति व्यक्ति प्रति मास और शहरी क्षेत्रों में 75 रुपए प्रति व्यक्ति प्रति मास का आकलन किया गया है। इसकी तुलना में 1972-73 की कीमतों के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में 41 रुपए प्रति व्यक्ति मासिक व्यय और शहरी क्षेत्रों में 47 रुपए प्रति व्यक्ति मासिक व्यय रहा है। प्रत्येक राज्य में गरीबी रेखा से नीचे के लोगों की प्रतिशतता का अनुमान करने के लिए राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के विवरण का प्रयोग किया गया है जिसमें घरेलू उपभोग व्यय का 27वीं बार आकलन (अक्टूबर 1972 से सितंबर 1973 तक) किया गया है।

योजना मंत्री ने संसद के समक्ष 1981 के बजट सत्र के दौरान जो उत्तर दिए हैं उनके अनुसार 1980 में गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले लोगों की संख्या 38.4 करोड़ हो गई है जिसमें 12 वर्ष से कम आयु के 11.8 करोड़ बच्चे शामिल हैं। लगाया था। यह संख्या जनगणना आयुक्त द्वारा अनुमानित देश की कुल जनसंख्या 68 करोड़ का 55 प्रतिशत है।

कुपोषण

लैरी कॉलिन्स और डॉमनीक्यू लेपैंरे ने लिखा है : "जब भारत अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने वाला ही था, उस क्षण कलकत्ता में 30 लाख लोग कम भोजन के कारण अल्प पोषाहार की दशा में रह रहे थे, यथा—उन लोगों का कैलोरी ग्रहण हिटलर के मृत्यु शिविरों में रह रहे लोगों को दी जाने वाली कैलोरियों से भी कम था।[4] कॉलिन्स ने स्वतंत्रता पूर्व भारत के एक शहर की जनसंख्या के बारे में जो कुछ भी लिखा है, वह स्वतंत्रता के 33 वर्ष बाद, हमारे देश की ग्रामीण, आदिवासी और शहरी गंदी बस्तियों की अधिकांश जनता के बारे में आज भी सही है। परिवार को पर्याप्त अथवा संतुलित भोजन देने के लिए बहुत ही कम धन है इसलिए हमारी जन-संख्या में से अधिकांश जनसंख्या की प्रतिशतता को अनाज, चीनी और मूलकन्द-सी अपर्याप्त और असंतुलित खुराक पर ही संतुष्ट होना पड़ता है।

खाद्यान्न की इतनी अधिक कमी है (और इसीलिए यह महंगाई है) कि भारत सरकार के सांख्यिकी विभाग द्वारा प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार मार्च 1975 में भारतीयों के कुल निजी उपभोग व्यय का लगभग दो तिहाई भाग केवल खाद्यान्न के लिए ही किया गया था। उपभोग का यह पैटर्न 1960-61 से 1970-71 की दशाब्दी के दौरान, जिसके आंकड़े उपलब्ध हैं, कमोबेश स्थिर रहा।

राष्ट्रीय पोषण परिवीक्षण ब्यूरो और अन्य कई शोधकर्ताओं ने आहार की आदतों के बारे में राष्ट्रीय सर्वेक्षण किया जिससे यह पता चलता है कि औसतन एक भारतीय को प्रतिदिन अपने भोजन में प्राय: कैलोरी, प्रोट्रीन, विटामिन ए, सी, रिबोफ्लैविन, खनिज और विशेषतया कैलशियम का अभाव रहता है। यदि उसको एक वस्तु मिल जाती है तो दूसरी उसे नहीं मिल पाती। हमारे स्कूल आयु से कम आयु वाले बच्चों में से 42 प्रतिशत बच्चे बहुत ही कम कैलोरी खुराक पर जीवित रहते हैं। 1972-74 के मध्य जो अध्ययन किया गया उसमें 5,835 परिवार (4,141 ग्रामीण + 1,695 शहरी) थे जिनमें 33,261 व्यक्ति शामिल थे जिससे यह पता लगता है कि लगभग सभी राज्यों में पचास प्रतिशत से अधिक कुछ ही व्यक्तियों को पर्याप्त प्रोटीन मिल पाते हैं। केरल, तमिलनाडू और कर्नाटक को छोड़कर सभी राज्यों में कैलोरी का अभाव है। केरल, तमिलनाडू व कर्नाटक में कभी-कभी व्यक्ति प्रोटीन की अपर्याप्त मात्रा का उपभोग कर पाते हैं जबकि उन्हें पर्याप्त कैलोरीज़ मिल जाती हैं।

दालों (दाल और बीन) का उपयोग 70 ग्राम प्रतिदिन का निर्धारित है लेकिन उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश को छोड़कर सभी राज्यों में दालों का उपभोग इस निर्धारित मात्रा से बहुत कम है।

विरोधाभास यह भी है कि यद्यपि इस देश में संसार के चौथाई पशु हैं फिर भी संसार की दुग्ध सप्लाई का केवल पांच प्रतिशत भाग ही इस देश में हो पाता है।

4. 'फ्रीडम एट मिडनाइट', विकास पब्लिशिंग हाउस, 1975, पृष्ठ 232.

यदि प्रौढ़ों को प्रतिदिन दस औंस दूध (आदर्श मात्रा 20 औंस की तुलना में) देने की आवश्यकता मानी जाए तो वास्तव में उपलब्ध दूध पचास प्रतिशत से भी कहीं कम होता है। मद्रास की गंदी बस्तियों के सर्वेक्षण से यह पता लगा है कि निराश्रित परिवार दूध और दूध की बनी हुई चीजों के खरीदने के लिए केवल वर्ष भर में 20 रुपये ही खर्च कर पाते हैं। सरकारी आंकड़ों के अनुसार दूध (दूध की बनी वस्तुओं) की उपलब्धता भारत में प्रति व्यक्ति बढ़ने की अपेक्षा कम हो गई है। 1951 में 132 ग्राम की उपलब्धता थी जो गिरकर 1974 में 110 ग्राम रह गई है। योजना आयोग द्वारा निर्धारित लक्ष्य 284 ग्राम (1968 में घटाकर इसे 210 कर दिया गया) के परिप्रेक्ष्य में उपरोक्त आंकड़ों पर विचार किया जाना चाहिए।

जैसा कि प्रोफेसर गुन्नर मिर्डल ने कहा है, "भारतीय जनता ऐसी गुणवत्तापूर्ण पोषक कमियों की शिकार है जो उन्हें कई स्वास्थ्यपूर्ण जोखिमों से अपना बचाव करने में असमर्थ बना देते हैं, विशेषकर तथाकथित प्रारंभिक बीमारियों में और सामान्यतया जब सावधानी, स्वेच्छा और कठोर काम करने की क्षमता की अधिक समय तक आवश्यकता होती है।"

कैलोरी-प्रोटीन के अभाव विशेषकर छोटे बच्चों और गर्भवती तथा धायों में पाए जाते हैं। इनके अभावों से प्रारंभिक जीवन में जो क्षति होती है उनका हिसाब नहीं लगाया जा सकता। वास्तव में प्रोटीन का अभाव, जराजीर्णता का प्रारंभ बिंदु है। तंत्र-कोशिकाएं और मस्तिष्क कोशिकाएं ही केवल ऐसी कोशिकाएं हैं जो अपने आप में नहीं बढ़तीं और जराजीर्णता में यह बात निहित है कि ये कोशिकाएं कम होने और सूखने लगती हैं। भारतीय बालक में यह जराजीर्णता उसके जन्म से पूर्व ही आरंभ हो जाती है और उसके प्रारंभिक वर्षों में बनी रहती है। उसे पर्याप्त प्रोटीन नहीं मिल पाता जिसके कारण वह दुर्बल हो जाता है। प्रोटीन के अभाव से मस्तिष्क की कोशिकाओं की संख्या कम हो जाती है और उससे मानसिक विकास रुक जाता है। देश में प्रति व्यक्ति प्रोटीन की औसत रूप से उपलब्धता 1951 में प्रतिदिन 2.15 औंस से गिरकर 1974 में 1.4 औंस रह गई है।

पांच वर्ष से कम आयु के बच्चे जो पोषण की दृष्टि से सबसे अधिक नाजुक होते हैं, भारत की जनसंख्या के 15 प्रतिशत से अधिक हैं (जबकि इसकी तुलना में इंगलैंड में 8.8 प्रतिशत और अमरीका में 10.5 प्रतिशत) हैं।

भारतीय चिकित्सा शोध परिषद् ने सर्वेक्षण किए हैं जिनसे यह पता चलता है कि भारत के निर्धन समुदायों के स्कूल आयु से पूर्व के बच्चों में लगभग 90 प्रतिशत बच्चों की ऊंचाई और भार अमरीका के उसी आयु वर्ग के सबसे छोटे और सबसे कमजोर 10 प्रतिशत बच्चों के समान होते हैं। आई० सी० डी० एस० योजना के परामर्शदाताओं ने अभी हाल ही में राष्ट्रीय सर्वेक्षण किया है जिसके अंतर्गत स्कूल आयु से पूर्व के 29,000 ग्रामीण और आदिवासी बच्चों को शामिल किया गया है। इस अध्ययन से यह पता लगा है कि इन बच्चों में से 45 प्रतिशत बच्चे मामूली तौर पर और गंभीर रूप से कुपोषण से ग्रस्त हैं और 60 प्रतिशत से कम बच्चों का वजन

उनकी आयु के अनुरूप नहीं है। कैलोरी और प्रोटीन के कुपोषण के कारण सूखा रोग और क्वाशीओरकोर जैसे भयंकर रोग हो जाते हैं। आई० सी० डी० एस० के अध्ययन से यह पता चलता है कि स्कूल आयु से पूर्व लगभग 8 प्रतिशत बच्चों में ये रोग फैले हुए हैं। इन बच्चों में रुग्णता और मृत्यु दर भारी कुपोषण से जुड़ी हुई है। कुपोषण के कारण बच्चे संक्रमण से अपनी रक्षा नहीं कर पाते। हमारे स्कूल आयु से पूर्व के लगभग 10 प्रतिशत ग्रामीण और आदिवासी बच्चे पूरे समय तक बीमार रहते हैं।

हमारे देश में प्रति वर्ष पर्याप्त पोषण के अभाव में लाखों गर्भवती महिलाएं और पांच वर्ष से कम आयु के बच्चे कालकवलित हो जाते हैं। यह आश्चर्यजनक घटना नहीं है क्योंकि महिलाओं और बच्चों को प्रायः बहुत कम भोजन मिल पाता है। जो कुछ भी अल्प मात्रा में भोजन उपलब्ध है, वह काम करने वाले आदमी को दिया जाता है। यह स्थिति बहुत भयानक है, लेकिन यह सत्य है।

स्कूल जाने वाले बच्चों और अस्पतालों के रोगियों को जो भोजन तथा पोषक तत्व मिल पाते हैं उनमें व्यापक रूप से बहुत कमियां होती हैं। इस खुराक में आवश्यक विटामिन अर्थात्—विटामिन ए, बी-कम्प्लेक्स, विटामिन सी और डी के अलावा कैलोरी और प्रोटीन का अभाव होता है। कैलशियम और फासफोरस की कमी भी सर्वव्यापी है और कुछ क्षेत्रों में आयोडीन की कमी के कारण गलगंड स्थानिक बीमारी है।

इस प्रकार पोषण की समस्या केवल कैलोरी की समस्या ही नहीं है अपितु अपेक्षाकृत अधिक संतुलित खुराक पर निर्भर है। एक या दो प्रकार के अनाजों पर निर्भर रहने से रोग से बचने के लिए सुरक्षा के तत्वों के आवश्यक संतुलन की व्यवस्था कराने में असफलता मिलती है।

तालिका 11 (पृ० 30-31) में पोषक स्तर दिखाए गए हैं जो वर्ष 1961 से 1970 तक के वर्षों की अवधि में विभिन्न देशों के लोगों को मिले हैं। 26 देशों में भारत को सबसे नीचे का स्थान मिला है।

यह स्पष्ट है कि उन्नत देशों की तुलना में भारतीय औसतन अधिक अनाज खाते हैं लेकिन शक्कर, दूध, चिकनाई और तेल की मात्रा की प्रति व्यक्ति उपलब्धता बहुत ही कम है, जिसका अर्थ यह है कि हमारे भोजन में अधिकतर शरीर-वृद्धि करने वाले पोषक तत्व या अनाजों से अलग हटकर खाद्यान्न नहीं होते। यदि ये उपलब्ध हों तो हमारी खुराक में न केवल प्रोटीन और विटामिन की काफी मात्रा मिलेगी बल्कि साथ ही साथ हमें अपनी खुराक में महत्वपूर्ण खनिज, यथा—लोहा, कैलशियम व फासफोरस भी मिल जाएंगे।

वस्तुतः यह आश्चर्यजनक है कि मूंगफली से तेल निकालने के बाद तैयार किए गए आटे का भली भांति प्रयोग नहीं हो पाता। भारत में 5.5 करोड़ टन मूंगफली पैदा होती है। इसी प्रकार सोयाबीन का दूध भी उपयोगी है और हमें बहुत समय से यह मालूम है कि सोयाबीन के दूध से पोषण अधिक हो सकता है लेकिन हमने अभी तक इसकी आपूर्ति की वृद्धि में कोई प्रगति नहीं की है।

लगभग 75 लाख भारतीय अंधे हैं। और इस अंधता का मुख्य कारण कुपोषण है। यह अंधापन पांच वर्ष से कम आयु के बच्चों में भी है जैसा कि भारतीय चिकित्सा शोध परिषद् ने अभी हाल ही में सर्वेक्षण किया था। स्कूल आयु से पूर्व के लगभग चार प्रतिशत बच्चे साधारण रूप से देख पाते हैं जिसका कारण विटामिन 'ए' की कमी है। इस विषय पर अनेक प्रश्न पूछे गए जिनके उत्तर में भूतपूर्व स्वास्थ्य मन्त्री डॉ० कर्णसिंह ने 27 फरवरी, 1975 को लोकसभा में यह बताया कि विटामिन 'ए' की कमी के कारण प्रति वर्ष 14 से 15 हजार तक बच्चे अंधे हो जाते हैं।

सरकारी आंकड़ों के अनुसार हमारे देश में अंधों की संख्या बढ़कर 90 लाख हो गई है जिनमें से 1 लाख 80 हजार लोगों ने अपनी खुराक में विटामिन 'ए' की कमी के कारण आंख की रोशनी खो दी है। यह तथ्य 4 दिसम्बर, 1980 को राज्य स्वास्थ्य मन्त्री श्री मूलचंद डागा ने लोकसभा में बताया था।

यह भी अनुमान लगाया जाता है कि 75 प्रतिशत बच्चे जिनकी संख्या का अनुमान आज 25 करोड़ है, उन्हें बड़ी-छोटी बीमारियों के कारण 'अस्वस्थ' रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। इस प्रकार इन बच्चों को बहुत ही कम भोजन मिलता है और इनके जीवित रहने के अवसर भी बहुत कम हैं।

जनसंख्या के अधिकांश लोगों को जीवन पर्यन्त भूखे रहना पड़ता है। यदि बराबर भूख बनी रहे तो उससे उदासी होती है और काम में मन नहीं लगता। जर्मन वैज्ञानिकों की सोसाइटी ने विश्व खाद्यान्न संकट का विश्लेषण करते हुए कहा : "कभी-कभी उष्णकटिबंधीय भागों में कठोर काम के प्रति आलस्य और उदासी देखी जाती है जिसका कारण वहां की जलवायु अथवा काम करने की इच्छा को नहीं समझा जा सकता। वास्तव में यह पोषक तत्वों के अपर्याप्त होने से होता है। इसके फलस्वरूप लोग अधिक शक्तिशाली रूप से काम करने में असमर्थ रह जाते हैं और काम करते समय दुर्घटनाओं से ग्रस्त हो जाते हैं तथा उन्हें बीमारियां घेर लेती हैं। विकासशील देशों के व्यक्तियों और सामूहिक समुदायों के संबंध में पाया गया है कि अल्पाहार, अपर्याप्त कार्य-निष्पादन और बढ़ती हुई गरीबी का दुश्चक्र चलता रहता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आर्थिक विकास के लिए पोषक तत्वों के स्तर में सुधार लाना मुख्य आवश्यकता है। इसके बिना मजदूरी की गुणवत्ता में कोई सुधार नहीं हो सकता। इसीलिए हम ऐसे दुश्चक्र में फंसे रहते हैं। अधिक और अच्छा भोजन न मिलने से हमारी शारीरिक क्षमता नहीं बढ़ पाती जिसके फलस्वरूप हमारे खाद्यान्न की उत्पादकता भी सीमित हो जाती है।

अध्ययनों से यह पता चला है कि बच्चों को उपलब्ध खाद्यान्नों की मात्रा पर परिवार के आकार का प्रभाव पड़ता है। प्रोटीन कैलोरी की कमी उन परिवारों में पायी गई है जिनमें चार बच्चों से अधिक बच्चे हैं। भूख और अधिक जनसंख्या का दुश्चक्र सर्वविदित है : भूख के कारण बच्चों की मृत्यु दर अधिक होती है और इसी के फलस्वरूप बड़े परिवारों की आवश्यकता होती है।

तालिका 11

रहन-सहन का स्तर : चयन किया हुआ सूचक (खाद्यान्न)

देश	वर्ष	प्रतिव्यक्ति शुद्ध खाद्यान्न की आपूर्ति				प्रतिदिन कैलोरी	प्रतिदिन प्रोटीन (ग्राम)
		अनाज	चीनी	मांस	दूध		
1	2	3	4	5	6	7	8
अर्जेन्टाइना	1969	259	97	335	338	3160	105
आस्ट्रेलिया	1968	256	145	300	640	3220	106
आस्ट्रिया	1969-70	253	92	211	545	3230	86
बेलजियम	1969-70	219	107	213	542	3230	92
ब्राजील	1970	272	128	84	195	2820	67
कनाडा	1969	183	138	253	662	3150	97
चिली	1970	321	86	108	231	2560	66
चीन	1964-66	387	10	47	9	2050	57
डेनमार्क	1969-70	189	135	170	720	2140	89
मिस्र	1968-69	565	44	31	135	2770	80
फ्रांस	1969-70	219	94	256	630	3270	103
पश्चिम जर्मनी	1969-70	189	95	220	567	3180	83
भारत	1969-70	384	49	4	116	1990	49

(क्रमश:)

1	2	3	4	5	6	7	8
इस्राइल	1969-70	304	107	155	403	2990	92
इटली	1969-70	353	74	136	394	3020	88
जापान	1970	352	73	48	137	2470	77
मैक्सिको	1964-66	379	109	55	157	2620	66
नीदरलैंड	1968-69	188	133	159	671	3030	84
फिलिपिन्स	1969	362	50	44	54	2040	53
श्रीलंका	1970	385	62	5	54	2340	49
स्वीडन	1970-71	168	114	अनुपलब्ध	723	2850	80
सीरिया	1964-66	456	46	31	152	2450	69
तुर्की	1964-66	474	41	39	219	2760	78
इंगलैंड	1970-71	200	136	209	592	3170	87
अमरीका	1970	176	140	310	689	3300	99
यूगोस्लाविया	1968	498	66	93	281	3130	92

स्रोत : भारत : पाकेट बुक आफ इकनॉमिक इन्फौरमेशन, 1973 और 1974, पृष्ठ 256.

'टाइम्स आफ इंडिया', नई दिल्ली ने 16 नवम्बर, 1975 को अपने एक प्रमुख लेख में कहा है।

> "एकाएक या विशेष उल्लेखनीय घटना स्वतः मुख्य समाचार बन जाती है जबकि धीमी और कठोर प्रक्रिया के साथ ऐसा नहीं होता। इस संबंध में कुपोषण की काली छाया का मामला विशिष्ट है। लगभग 6 करोड़ बच्चे यहां पर घोर अल्पाहार से ग्रस्त हैं। लेकिन कोई भी व्यक्ति ऐसा दिखाई नहीं देता जो उनकी तरफ ध्यान दे। न तो तात्कालिक कार्यक्रम हैं और न ही उनकी दशा सुधारने के लिए साधन अपनाए जाते हैं। वस्तुतः कुछ दशाओं में सूखा और अकाल की अपेक्षा कुपोषण ऐसी भयावह स्थिति है जो न दिखाई देने वाला शत्रु है। इसके कारण प्रति वर्ष कम से कम 10 लाख बच्चों की मृत्यु हो जाती है और अनेक बच्चों की शारीरिक और मानसिक वृद्धि कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य विशेषज्ञों को यह भी पता लगा है कि कुछ ऐसे विशेष वर्ग हैं जो कम पोषक तत्वों के कारण प्रभावित हैं। इनमें महिलाएं भी हैं जो सामान्यतया परिवार में सबसे बाद में भोजन करती हैं। और इसी कारण उन्हें खाने के लिए सबसे कम भोजन मिल पाता है।"

दुःख और निर्धनता के दो घिनौने विवरण दिये जाते हैं जिनसे यह विदित होगा कि हमारे देश के लोग कितना दुःख उठाते हैं और जिनसे यह भी सिद्ध होता है कि हमारे राजनीतिक नेताओं ने कैसे बड़े-बड़े दावे किए हैं और उनके कार्य कितने निरर्थक हैं।

बंगलौर, 7 **अगस्त**

एक बजे का समय है—ब्रिज रोड, साऊथ परेड (जो अब महात्मा गांधी मार्ग के नाम से विख्यात है) और सेंट मार्क्स रोड के फैशनेबुल रेस्ट्रां में अमीर ग्राहकों के दोपहर के भोजन का समय है। यही हजारों लोगों के लिए कूड़ा-करकट में से बीनकर भोजन करने का भी समय है।

सबसे पहले, कूड़ेदान में फेंके गए बचे-खुचे भोजन के लिए एक कुत्ता दूसरे कुत्ते से लड़ता है। इसके बाद आदमी कुत्ते पर उन चीजों के लिए झपटता है जिन्हें भोजन कहा जाता है, यथा—पकी-अनपकी हड्डियां, गोश्त, प्याज के टुकड़े, सड़े आलू और सब्जियां।

36 वर्षीय वृद्ध महिला मुनीयाम्मा ने अपना सारा जीवन अपनी मां के समान ही कूड़े-करकट में से भोजन बीनकर गुजार दिया है। अब उसने अपनी 12 वर्षीय लड़की को भी यह काम सिखा दिया है।

एलसा एक दूसरी रोगी अधेड़ उम्र की महिला है जो प्रतिदिन अपना भोजन कूड़े-करकट के ढेर से चुनती है। वह अपनी दो वर्षीय लड़की के साथ पटरी पर रहती है।

सेंट मार्क कैथड्रिल रिलीफ़ सर्विस की युवा शाखा, जिसे 'रीच आउट' कहते हैं, ने यह पता लगाया है कि कैन्टोनमेंट क्षेत्र में कूड़े-करकट से बीनकर भोजन करने वाले लोगों की संख्या 6,700 से अधिक है। इस बढ़ते शहर के शेष आधे भाग में भी ऐसे ही हजारों लोग होंगे।

किसी प्रमुख रेस्तरां और लोकप्रिय क्लब के बीच दो कूड़ेदान रखे हैं जिनमें कई भोजनालयों का कूड़ा फेंका जाता है। इनमें से एक चीनी होटल और मिठाई की दुकान है जहां से सब्जियां, मांस-मछली, उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत के विविध प्रकार के भोजन बचे-खुचे रूप में फेंके जाते हैं। कूड़ा बीनने वालों में से कुछ लोग रद्दी कागज बीन लेते हैं जिसे वे मांस, मछली और सब्जियां पकाने के काम में लाते हैं जो उन्होंने कूड़े-करकट के ढेर से उठाई हैं (देखिए 'द टाइम्स आफ़ इंडिया', नई दिल्ली, दिनांक 8 अगस्त, 1973)

बीस महीने बाद 30 अप्रैल, 1975 के 'इंडियन एक्सप्रैस' में एक रिपोर्ट प्रकाशित की गई थी जिससे प्रत्येक देशभक्त भारतीय का दिल अवश्य दुखी होगा।

> बेकार सामान यथा कागज, टूटा-फूटा कांच, कॉर्क और नारियल के छिलके तथा वेश्यावृत्ति जैसे कुछ काम हैं जिनसे कलकत्ता की पटरियों पर रहने वाले हजारों निराश्रित लोगों का जीवन चलता है।
>
> इन लोगों में से 66 प्रतिशत लोग आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक कारणवश पश्चिमी बंगाल के विभिन्न जिलों से शहर में आए हैं। 32.2 प्रतिशत लोग बिहार, उत्तर प्रदेश और बंगला देश से आए हैं जैसा कि कलकत्ता मैट्रोपॉलिटन विकास प्राधिकरण के सर्वेक्षण से विदित होता है।
>
> पटरी पर रहने वाले लगभग 10 हजार व्यक्ति ऐसे कुल व्यक्तियों के 20 प्रतिशत हैं जिनसे इस सर्वेक्षण में पूछताप की गई है।
>
> इस सर्वेक्षण से किशोरों के बारे में हृदय-विदारक और दुखद सूचनाएं मिली हैं। इन किशोरों में लड़के और लड़कियां शामिल किए गए हैं। ये लड़के-लड़कियां ईमानदारी से जिंदगी व्यतीत करने की कोशिश करते रहे लेकिन धीरे-धीरे बदमाशों, उठाईगीरों और वेश्यालयों की पकड़ में आते गए जिसका कारण था कि वे भूखे थे, उदास थे और अधिकारियों की सहानुभूति से वंचित थे।
>
> इस शहर के निराश्रित 39.2 प्रतिशत लोग शारीरिक रूप से विकलांग हैं—लंगड़े, अंधे, बहरे अथवा गूंगे हैं। 29.9 प्रतिशत लोग भयंकर पुरानी बीमारियों, यथा—क्षय रोग, दमा और कैंसर से पीड़ित हैं। शेष 11 प्रतिशत लोग मानसिक रोगों से ग्रस्त हैं।
>
> सामान्यतया यह निराश्रित लोग दलों के रूप में शहर में आ जाते हैं। इनमें से कुछ ही ऐसे हैं जो अविवाहित होते हैं।
>
> इन निराश्रित लोगों का पांचवां भाग दान और भीख पर आश्रित है।

शेष लोग अपने जीवन निर्वाह के लिए या तो रद्दी इकट्ठा करते हैं या कभी-कभी कोई रोजगार कर लेते हैं अथवा वेश्यावृत्ति से धन कमाते हैं।

प्रति वर्ष ऐसी असंख्य घटनाएं हो रही हैं जिनमें कम क्रय-शक्ति, कम खाद्यान्न की उपलब्धता और पर्याप्त परिधान और विश्राम स्थल का अभाव है, और इन सबके ऊपर बढ़ती हुई बेरोजगारी है जिसके फलस्वरूप असंख्य भारतीयों की अन्ततोगत्वा अकाल मृत्यु हो जाती है। यह मृत्यु सर्दी से होती है, लोग आत्महत्या कर बैठते हैं और कुछ माता-पिता अपने बच्चों की हत्या कर देते हैं। ये सभी घटनाएं किसी सभ्य शासन के लिए शर्मनाक हैं।

खाद्यान्न और कृषि संगठन द्वारा किए गए अध्ययनों से पता चलता है कि सन् 1969-74 की अवधि के दौरान (जो कि हरित क्रांति का स्वर्ण काल था) लोगों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है जो निम्न प्रकार से है :

तालिका 12

कुपोषण का प्रभाव 1969-74

(कुल जनसंख्या के व्यक्तियों की संख्या और उनकी प्रतिशतता)

	संख्या हजारों में		प्रतिशतता	
	औसत 1969-71	औसत 1972-74	औसत 1969-71	औसत 1972-74
भारत	141214	175162	26	30

हाल ही के मामले पर विचार करते हुए 23 जुलाई, 1980 के 'द टाइम्स आफ इंडिया', नई दिल्ली में जो रिपोर्ट दी गई है वह इस प्रकार है :

गरीबी से आक्रांत परिवार के चार सदस्यों द्वारा आत्महत्या

झांसी, 22 जुलाई (यू० एन० आई) : घोर निर्धनता के कारण चार सदस्यों के परिवार ने अपनी जीवन-लीला समाप्त कर ली।

ए० सहरअली अपनी 4-6-8 वर्षीय तीन पुत्रियों के साथ शनिवार को मोथ तहसील में स्थित कुएं में कूद गया। उनके शव कुएं से बाहर निकाल लिए गए हैं।

यह कहा जाता है कि सहरअली अपनी पुत्रियों के लिए खाना उपलब्ध कराने में असमर्थ था।

रोग

जहां तक हम लोगों की सेहत का सवाल है, वह दिन-प्रतिदिन गिरती जा रही है। हमारी युवा पीढ़ी के नौजवानों के कद, उनके सीने की चौड़ाई और उनके

वजन में बराबर गिरावट आ रही है । फौज और पुलिस के भर्ती करने वाले अधिकारियों को आज ऐसे मजबूत और स्वस्थ नौजवान नहीं मिल पा रहे हैं जो स्वतंत्रता-पूर्व मिल जाया करते थे । हमारे पचास प्रतिशत से अधिक बच्चों, जो गांव और गंदी बस्तियों में पैदा होते हैं, की दशा अत्यंत दुखद है जिसका मुख्य कारण कुपोषण है क्योंकि उनकी माताओं को उनके प्रसवकाल में प्रोटीन से भरपूर पर्याप्त भोजन नहीं मिला है और उन बच्चों को जन्म देने के बाद भी पोषक खाद्यान्न उपलब्ध करने में वे असमर्थ हैं ।

अगर लोगों की स्वास्थ्य-दशा के बारे में संतोषजनक ढंग से वर्णन किया जाये तो एक बड़े ग्रंथ की आवश्यकता होगी लेकिन इस समय हम केवल उस रिपोर्ट का सारांश देकर ही संतुष्ट होंगे जो ग्लैक्सो (भारत) ने भारत के केन्द्रीय और राजकीय अधिकारियों के सहयोग से तैयार की है और जिसे 10 नवम्बर, 1980 के 'हिन्दुस्तान टाइम्स', नई दिल्ली में प्रकाशित किया गया था :

> नई दिल्ली, 9 नवम्बर—दो सौ सत्तर लाख भारतीय ग्रामीण आंत ज्वर से पीड़ित रहते हैं । 1990 में उनकी संख्या बढ़कर 3.3 करोड़ हो जाएगी और 2000 ईसवी में यह संख्या 4 करोड़ रोगियों की होगी ।
>
> एक फार्मास्यूटिकल कम्पनी में अपनी रिपोर्ट में यह बताया है कि चाहे जनसंख्या में प्रतिवर्ष 1.5 करोड़ की वृद्धि क्यों न हो फिर भी जल सप्लाई और स्वच्छता के सुधार के फलस्वरूप उपरोक्त संख्या क्रमशः घटकर 2.1 करोड़ और 1.9 करोड़ रह सकती है ।
>
> 'मैडिकल प्रोटैक्शन्स' (2000 हजार ईसवी) नामक रिपोर्ट केन्द्रीय और राजकीय अधिकारियों तथा अस्पतालों के सहयोग से ग्लैक्सो (भारत) ने तैयार की है । इसमें यह बताया गया है कि बढ़ती हुई अस्वच्छता और शुद्ध पेय जल न होने के कारण अधिकाधिक लोग बीमार हो जाते हैं ।
>
> यदि जल की सप्लाई में उत्तरोत्तर 75 प्रतिशत की वृद्धि कर दी जाए और स्वच्छता में भी 50 प्रतिशत अधिक सुधार किया जाए तो गांव में आंत-ज्वर के रोगियों की संख्या दस वर्ष बाद 2.1 करोड़ रह जाएगी और इस शताब्दी के अंत में 1.9 करोड़ रह जाएगी ।
>
> यदि सभी बच्चों को तीन साल की आयु तक डिफ्थीरिया, काली खांसी और टैटनस से मुक्त करना है तो उनको 9.6 करोड़ खुराक डी० पी० टी० वैकसीन की आवश्यकता होगी जबकि इस समय 2.5 करोड़ खुराक डी० पी० टी० वैकसीन तैयार किया जाता है । यह मांग दो शताब्दियों बाद 12 करोड़ खुराक होगी ।
>
> ग्लैक्सो के तकनीकी सेवाओं के निदेशक डॉ० एम० पॉल आनंद ने गत सप्ताह बम्बई में दिल्ली के पत्रकारों से कहा था : "अधिकांश बीमारियां जल और वायु से उत्पन्न होती हैं । हमें दवाइयों के स्थान पर स्वास्थ्य साधनों

की आवश्यकता है।"

इसके अलावा डॉ० आनंद ने यह भी बताया है कि अन्य योजना व्यय की तुलना में स्वास्थ्य पर व्यय एक तिहाई है जैसा कि 25 वर्ष पूर्व था। उन्होंने यह भी बताया कि इस व्यय का अधिक लाभ उठाने वाले शहरी क्षेत्र के लोग हैं।

इस रिपोर्ट में यह भी बताया गया है कि जनसंख्या का 7 प्रतिशत अथवा 1.8 करोड़ लोग हृदय रोग से पीड़ित रहते हैं। इन रोगियों की संख्या 1990 में 2.6 करोड़ हो जाएगी और 2000 ईसवी में 3.8 करोड़ होगी। हाइपर-टैनशन के रोगी (जनसंख्या के 10 प्रतिशत लोग) 2.5 करोड़ से बढ़कर 3.8 करोड़ और 5.5 करोड़ हो जाएंगे।

अमीबा पेचिश के रोगी (जनसंख्या के 30 प्रतिशत लोग) 21 करोड़ से बढ़कर 24 करोड़ और 28.5 करोड़ हो जाएंगे। कृमिरोगियों (जनसंख्या का 40 प्रतिशत) की संख्या 26 करोड़ से बढ़कर 32 करोड़ और 34 करोड़ हो जाएगी। मधुमेह रोगियों (जनसंख्या का दो प्रतिशत) की संख्या 1.4 करोड़ से बढ़कर 1.9 करोड़ और 2.5 करोड़ हो जाएगी।

रिपोर्ट के अनुसार इस समय प्रति वर्ष कुल 18.5 करोड़ लोग दस्त के रोग से पीड़ित रहते हैं। इन रोगियों की संख्या बढ़कर 1990 में 20.4 करोड़ और 2000 ईसवी में 24.2 करोड़ हो जाएगी।

इस रिपोर्ट में 18 रोगों का वर्णन किया गया है जिसमें से मलेरिया और तपेदिक ही ऐसे दो रोग हैं जिनसे पीड़ित रोगियों की संख्या आगामी कुछ वर्षों में कुछ कम हो जाने की आशा है।

2

कृषि की भूमिका

"प्रारंभ से ही मेरा यह अटूट विश्वास रहा है कि केवल कृषि ही इस देश के लोगों को अचूक और सतत सहायता प्रदान करती है।"

—महात्मा गांधी[1]

(क) खाद्यान्नों के उत्पादन की वृद्धि की आवश्यकता

रहन-सहन से मांगें बढ़ती जाती हैं। इन मांगों को वस्तुओं के प्रयोग और उपभोग से पूरा किया जा सकता है जिसे सामूहिक रूप से 'संपत्ति' कहा जाता है। कुल मिलाकर संपत्ति अंततोगत्वा भूमि से पैदा की जाती है। कच्चा माल उत्पन्न किया जाना चाहिए ताकि उसे ठीक किया जा सके और उसका वितरण हो सके। खाद्यान्न दिन-प्रतिदिन के जीवन की आवश्यकता है जिसे अधिकांशतया भूमि से प्राप्त किया जाता है। भूमि का प्रयोग अथवा, अन्य शब्दों में कहा जाए तो, कृषि स्पष्टतया प्राथमिक और मूलभूत उद्योग है। फिर भी, विनिर्माण और वाणिज्य देश की अर्थव्यवस्था में चाहे कितने ही महत्त्वपूर्ण हों, इनको देश की आवश्यकतावश द्वितीय स्थान प्राप्त है।

राष्ट्रीय औद्योगिक सम्मेलन बोर्ड इनकार्पोरेटेड और चैंबर्स ऑफ कामर्स, संयुक्त राज्य अमरीका ने संयुक्त राष्ट्र अमरीका में कृषि की स्थिति और उसके सुधार के उपाय सुझाने के लिए सन् 1926 में जो 'बिजनेसमेन्स कृषि आयोग' नियुक्त किया था, उसने राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में कृषि की भूमिका के बारे में जो वक्तव्य दिया था, उससे अधिक संगत वक्तव्य कोई नहीं हो सकता। कृषि की समस्या का किस प्रकार समाधान किया जाना चाहिए इस संबंध में अपने निष्कर्षों का सारांश देते हुए कमीशन ने कहा है :

1. विलेज स्वराज, पृष्ठ 92.

"कृषि न केवल फसलें उगाकर धन कमाने का ही तरीका है; यह न केवल उद्योग या व्यापार है अपितु यह वास्तव में एक सार्वजनिक कार्य या सेवा है। जिसे निजी तौर पर व्यक्ति राष्ट्रीय हित में भूमि की देखभाल और प्रयोग के लिए करते हैं; किसान अपने भरण-पोषण तथा निजी लाभ के लिए खेती करते हैं और इस प्रकार वे राष्ट्रीय जीवन के आधार के अभिरक्षक हैं। इसलिए कृषि स्पष्ट और विवादहीन लोकहित से प्रभावित होती है और इसकी प्रतिष्ठा राष्ट्रीय चिंता का विषय है जिसके लिए विवेवकशील और दूरगामी राष्ट्रीय नीतियों की आवश्यकता है ताकि इसमें निहित प्राकृतिक और मानवीय संसाधनों का संरक्षण ही न हो अपितु राष्ट्रीय सुरक्षा की व्यवस्था भी की जाए, चतुर्दिक समृद्धि को प्रोत्साहन दिया जाए और सामाजिक तथा राजनीतिक स्थायित्व को सुदृढ़ किया जाए।" (पृष्ठ 23)

सभी आर्थिक कार्यकलापों को प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक वर्गों में विभाजित किया जा सकता है जिनका संबंध संपत्ति अथवा वस्तुओं और सेवाओं की व्यवस्था से है। जो मानवीय मांगों, चाहे वे वैयक्तिक या सामूहिक ही क्यों न हों, की पूर्ति के लिए आवश्यक होती है। कृषि को साधारणतया चरागाह अथवा पशुपालन वन, शिकार और मछली पकड़ना और कभी-कभी प्राथमिक उद्योगों के अंतर्गत खनन जैसे रूपों में साधारणतया वर्गीकृत किया जाता है। इस वर्ग के अंतर्गत वे सभी कार्यकलाप शामिल किए जाते हैं जो प्राकृतिक संसाधनों के प्रत्यक्ष और तात्कालिक प्रयोग पर आधारित होते हैं। विनिर्माण और निर्माण कार्य (भवन और लोक निर्माण कार्य) एक साथ प्राथमिक उद्योगों के शीर्ष के अंतर्गत वर्गीकृत किए जाते हैं। तीसरे प्रकार के उद्योग (अथवा सेवाएं) को अन्य सभी आर्थिक कार्यकलापों के साथ मिलाकर बताया गया है। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वाणिज्य और वित्त, परिवहन और संचार, लोकोपयोगी (बिजली, गैस और जल) तथा सार्वजनिक और निजी सेवाएं सम्मिलित की जाती हैं। फिर भी वास्तविक वर्गीकरण किसी विशेष अर्थशास्त्री द्वारा दी गई प्राथमिकताओं से कहीं अलग है। उदाहरणार्थ, कुछ अर्थशास्त्री खनन और लोकोपयोगी सेवाओं को द्वितीयक शीर्ष के अंतर्गत मानते हैं और भवन तथा निर्माण को तृतीयक शीर्ष के अंतर्गत समझते हैं। इस प्रकार इन तीनों क्षेत्रों को कृषि-उद्योग और सेवाएं कहना अधिक उपयुक्त है।

इसके बाद कुछ अर्थशास्त्रियों ने इन कार्यकलापों को चार क्षेत्रों में विभाजित किया है—प्रमुख क्षेत्र का संबंध कृषि और उसके आनुषंगिक कार्यकलापों से है। द्वितीयक क्षेत्र का संबंध निर्माण और खनन कार्यकलापों से है और तृतीयक क्षेत्र का संबंध वाणिज्य, वित्त और वास्तविक संपदा स्वामित्व, संचार और परिवहन से है और चौथे वर्ग में व्यवसाय कार्य, सरकारी सेवाएं और घरेलू सेवाएं आदि हैं। भारत सरकार ने गत पांच वर्षों की अवधि में समय-समय पर प्रकाशिन अपने प्रकाशनों में इन कार्य-

कलापों को पांच वर्गों में विभाजित करना शुरू कर दिया है :

1. कृषि, वन और लकड़ी काटना, मछली पकड़ना, खनन और खदान।
2. माल तैयार करना, निर्माण-बिजली, गैस और जलपूर्ति ।
3. परिवहन, संचार और व्यापार ।
4. बैंकिंग और बीमा, आवासों और व्यापारिक सेवाओं की वास्तविक संपदा और उनका स्वामित्व ।
5. लोक प्रशासन और रक्षा तथा अन्य सेवाएं ।

स्वतंत्रता के बाद भारत की सबसे बड़ी कमजोरी यह रही है कि हमारे लोगों के जीवन की अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्त्व अथवा उसकी भूमिका को महसूस करने में असफलता हुई है। इस असफलता ने हमारे देश को बहुत हानि पहुंचाई है। जैसाकि यह पाया गया है कि भारी उद्योगों के प्रति अधिक ललक रही है और कांग्रेस के नेताओं ने कृषि को बहुत कम प्राथमिकता प्रदान की है। इन सभी व्यक्तियों के मतानुसार, जिन्होंने इस समस्या का कुछ न कुछ अध्ययन किया है, इस देश में गरीबी हटाना अथवा आर्थिक विकास, कृषि की समृद्धि के बिना नहीं हो सकता या उसकी समृद्धि के बाद ही समस्या का निदान होगा अथवा कृषि समृद्धि के साथ ही साथ यह समस्या सुलझ सकेगी। कृषि में पशु-पालन, मत्स्य-पालन और वन शामिल किए जाते हैं जिनसे दो प्रकार की वस्तुएं उत्पन्न की जाती हैं अर्थात् मनुष्यों के खाने के लिए भोजन और उद्योग चलाने के लिए कच्चा माल ।

भोजन मनुष्य की पहली आवश्यकता है जिसके बगैर मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। शहरों में आधुनिक सुविधाएं, यथा—चिकित्सालय, सड़कें, शिक्षा, आवास और कपड़ा तक को टाला जा सकता है लेकिन भोजन के बिना जीवित नहीं रहा जा सकता। अपनी सरकार के प्रति लोगों का विश्वास हो, इसके बाद खाद्यान्न देश की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है। खाद्यान्न इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि हम अपनी सीमाओं की सुरक्षा की व्यवस्था करें। खाद्यान्न की कमी से राजनीतिक अस्थिरता हो जाने की संभावना हो जाती है। खाद्यान्न के अभाव से युद्ध के परिप्रेक्ष्य में हलचल, गड़बड़ और बेचैनी पैदा होती है जिसका परिणाम यह हो सकता है कि चाहे कितनी ही दक्ष सेना क्यों न हो, उसका नैतिक पतन हो जाता है और वह आत्म-समर्पण कर बैठती है। कनफ्यूशस से एक बार यह पूछा गया कि एक शासक में तीन प्रमुख गुण क्या होते हैं। तो उन्होंने यह उत्तर दिया कि : "पर्याप्त खाद्यान्न, पर्याप्त सैनिक शक्ति और शासक के प्रति पर्याप्त लोक-विश्वास।" जब उनसे यह पूछा गया कि उनमें से कौन सा एक छोड़ा जा सकता है ताकि शेष दो से ही काम चलता रहे तो उन्होंने उत्तर दिया : "सैन्य शक्ति को छोड़ दीजिए।"

यह ठीक ही कहा है कि यदि बोरबौन, फ्रांस की खाद्यान्न-व्यवस्था को संतोषजनक बना लिया जाता तो बैसटेले शायद कभी भी घिर न पाते।" प्रतिवर्ष 140 लाख से अधिक जनसंख्या बढ़ती जा रही है और भारतीय कृषि बहुत कठिनाई से वर्तमान जनसंख्या को भोजन देने में सक्षम हो पाती है। अतः यह देखते हुए ऐसा लगता है कि

निकट भविष्य के क्षितिज पर सामूहिक भुखमरी से भारी खतरा पैदा हो जाएगा। वास्तव में अभी हाल ही के वर्षों में अपने देश के अधिकांश भागों में भूख से लोग मर रहे थे। महात्मा गांधी ने एक बार कहा था : "एक भूखा व्यक्ति किसी भी काम के करने से पूर्व अपनी क्षुधा को शांत करने की बात सोचता है। वह अपनी आजादी और सभी कुछ एक ग्रास भोजन पाने के लिए बेच देगा। यही हालत भारत के लाखों लोगों की है। इन लोगों के लिए स्वतंत्रता, परमात्मा और इसी प्रकार के अन्य शब्द केवल एक साथ मिलाकर लिखे गए अक्षर ही हैं जिनका अर्थ कुछ भी नहीं होता।"

क्या भारत में साम्यवाद (जहां सोवियत रूस की तुलना में मनुष्य के अनुपात में भूमि बहुत अधिक और कहीं कम भी है) हमारे देश की लोकतांत्रिक शासन प्रणाली की अपेक्षा कहीं पहले खाद्यान्न समस्या के निराकरण में सक्षम होगा। यह स्थिति सोवियत रूस ने स्वयं ही अपनी असफलता स्वीकार करके स्पष्ट कर दी है। अमरीका की अपेक्षा प्रति व्यक्ति भूमि का क्षेत्र कहीं अधिक होने के बावजूद रूस ने अपनी कृषि प्रणाली की अदक्षता के फलस्वरूप 1963 से अमरीका से बराबर खाद्यान्न का आयात किया है। गत बीस वर्षों में अधिकाधिक निवेश करने के बावजूद, सामूहिक रूप से खेती करने के आदर्श के कारण, रूस में कृषि पीड़ादायक है।

लेकिन तथ्य, आंकड़े और तर्क किसी भी भूखे व्यक्ति को कुछ भी नहीं समझा सकते। वह बराबर विचार करेगा अथवा वाद-विवाद करने से नहीं रुकेगा। वह साम्य-वा दको स्वीकार कर लेगा वस्तुतः किसी भी वाद को स्वीकार कर लेगा जो उसे 'रोटी' देने का वचन दे और वह उस समय अपनी भूल को समझ पाएगा जब उसका पीछे लौटना बहुत मुश्किल होगा।

1951 की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार भारत के पास सामान्यतया 1881-1890 के वर्षों में अथवा उसी समय के आस-पास प्रचुर खाद्यान्न था। चावल और गेहूं दोनों ही अनाज काफी थे और प्रतिवर्ष 12 लाख टन अन्न बच जाता था। इसके बाद के प्राप्त आंकड़े, जिनका गत पांच वर्षों में औसत लिया गया है, तालिका 13 में दिखाए गए हैं।

तालिका 13

1890-1920 की अवधि में भारत द्वारा
खाद्यान्न का आयात और निर्यात

(लाख टनों में)

पंचवर्षीय अवधि	निर्यात	आयात	निवल निर्यात
1890-91 से 1894-95	14.5	2.1	12.4
1895-96 से 1899-1900	11.0	4.8	6.2
1900-01 से 1904-05	16.6	6.2	10.4
1905-06 से 1909-10	14.8	9.6	5.2
1915-16 से 1919-20	15.9	11.90	4.0

1915-20 की पंचवर्षीय अवधि में अविभाजित भारत खाद्यान्नों में निवल निर्यातक था। इसके पश्चात् प्रत्येक पंचवर्षीय अवधि में निवल आयात होता रहा जैसा कि तालिका 14 में दिखाया गया है।

तालिका 14

1920-40 की अवधि में भारत द्वारा खाद्यान्नों का आयात और निर्यात

(लाख टनों में)

पंचवर्षीय अवधि	आयात	निर्यात	निवल आयात
1920-21 से 1924-25	11.4	9.8	1.6
1925-26 से 1929-30	15.9	8.3	7.6
1930-31 से 1934-35	18.4	5.7	12.7
1935-36 से 1939-40	20.7	6.0	13.8

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान और उसके समाप्त होने के 50 वर्ष बाद के परवर्ती परिवर्तनों का सारांश इस प्रकार है। 1940-41 ओर 1941-42 में निवल आयात बंद रहे और वास्तव में भारत ने श्रीलंका और अन्य कतिपय क्षेत्रों में खाद्यान्न की सप्लाई की : इसका तात्पर्य यह है कि निवल निर्यात लगभग एक वर्ष के लिए फिर से दिखने लगा यद्यपि उसकी मात्रा केवल 2.9 लाख टन ही थी।

1943-44 में बंगाल का अकाल पड़ा जब अंतर्राष्ट्रीय आवंटन के अनुसार भारत को भी 3.0 लाख टन की निवल सप्लाई प्राप्त हुई। आगामी दो वर्षों में केवल 7.3 और 9.3 लाख टन के आयात हुए। इस कमी को बचे हुए खाद्यान्न की खपत से पूरा किया गया। किसानों, व्यापारियों और उपभोक्ताओं के पास जो सामान्यतया भंडार थे उनमें कमी हुई। अतः खाद्यान्न के वितरण में भारी कठिनाइयां आयीं और इसके कारण स्थिति बहुत खराब हो गई, जिसे देखकर यह कहा जा सकता है कि 1946 में भयावह स्थिति थी।

इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध और बंगाल के अकाल ने भारत में खाद्यान्न के संसाधनों के प्रश्न को सर्वोपरि महत्त्व दिया। परन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि बंगाल का अकाल बंगाल की फसलों की कम पैदावार के फलस्वरूप नहीं हुआ था और इसका कारण यह भी नहीं था कि बर्मा, श्याम और इंडोचीन से आयातों में कमी की गई थी, बल्कि इसका कारण यह था कि सेना की आवश्यकताओं के कारण परिवहन साधनों में कमी हो गई, युद्ध काल में उत्पन्न परिस्थितियों के कारण कीमतें बढ़ गईं और अधिक लाभ कमाने तथा असुरक्षा की भावना के कारण लोगों ने अनाज को जमा करना शुरू कर दिया।

तालिका 15 में 1946-1950 के पांच वर्षों की अवधि में भारत सरकार के खाते में आयात की गई अनाज की मात्रा और मूल्य के विवरण दिए गए हैं।

तालिका 15

वर्ष	मात्रा हजार टनों में	मूल्य करोड़ों रुपयों में (लागत और भाड़ा)
1946	2285	76.11
1947	2371	93.99
1948	2887	129.72
1949	3765	144.60
1950	2159	80.60
	13467	525.02

वास्तव में 1946 से अब तक शायद ही कोई ऐसा वर्ष हो जब हमने खाद्यान्न का आयात न किया हो। खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता के उद्देश्य से 15 वर्षों की योजना के बावजूद (1966-67 के दो वर्षों में खराब फसल होने से) जो मुख्यतया सरकार के सिंचाई साधन के विकास करने की असफलता के कारण है, 1055 करोड़ रुपए (वर्तमान मूल्य के आधार पर) की बहुत बड़ी राशि खर्च करके 190.3 लाख टन अनाज के आयात की व्यवस्था की गई थी, जैसा कि तालिका 16 में दिखाया गया है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि कम विकसित कृषि औद्योगिक विकास को कितना असंगत कर सकती है जबकि औद्योगिक कच्चे माल के लिए आरक्षित विदेशी मुद्रा को खाद्यान्नों के आयात पर लगा दिया जाए।

तालिका 16

खाद्यान्नों में भारत के आयात

(मात्रा—हजार टनों में, मूल्य—करोड़ों रुपयों में)

वर्ष	मात्रा	मूल्य (लागत और भाड़ा)	1977 की इकाई कीमत में परिवर्तित मूल्य 1408.00 रुपए प्रति टन
1	2	3	4
1950	2159	80.60	303.99
1951	4801	216.78	675.98
1952	3926	209.07	552.78
1953	2036	85.95	286.53

(क्रमशः)

1	2	3	4
1954	843	48.53	118.69
1955	711	33.11	100.11
1956	1443	56.34	203.17
1957	3646	162.39	513.36
1958	3224	120.51	453.94
1959	3868	141.41	544.61
1960	5137	191.84	723.29
1961	3495	129.56	492.10
1962	3640	141.09	512.51
1963	4556	183.60	641.48
1964	6266	266.25	882.25
1965	7462	290.32	1050.65
1966	10358	523.13	1458.41
1967	8672	532.16	1221.02
1968	5694	361.20	801.72
1969	3872	253.01	545.18
1970	3631	207.55	511.24
1971	2054	123.46	289.20
1972	445	24.29	62.66
1973	3614	319.52	508.85
1974	4874	463.04	686.26
1975	7407	1057.90	1042.91
1976	6515	982.24	917.31
1977	555	78.16	78.16
1978	—	—	—
योग	114904	7283.01	16178.3

स्रोत : बुलेटिन ऑन फूड इस्टैटिस्टिक्स, 1978—अर्थशास्त्र और सांख्यिकी निदेशालय, कृषि और सिंचाई मंत्रालय।

टिप्पणियां :

1. स्तंभ दो में अलग-अलग वर्ष के आयात की मात्रा दिखाई गई है।
2. स्तंभ तीन में अलग-अलग वर्ष में आयात के मूल्य (लागत और भाड़ा दिखाया गया है। 1966 से बराबर आगे के वर्षों में आयात के मूल्यों में भारी वृद्धि के कारण 6 जून, 1966 से रुपए का अवमूल्यन है।
3. स्तंभ चार में 1977 में प्रचलित 1408 रुपए प्रति टन (लागत और भाड़ा) इकाई मूल्य के आधार पर परिवर्तित किए गए प्रति वर्ष का आयात मूल्य दिखाया गया है।
4. 1978 में अनाज का आयात नहीं किया गया था।

प्रति पांच वर्षों की अवधि के आंकड़ों को देखते हुए यह विदित होगा कि 1950 से लेकर अब तक बराबर खाद्यान्न के आयात की मात्रा में वृद्धि हुई है। 1950 से 1976 तक अधिक मूल्य के आयात किए गए जो चालू कीमतों पर 7,283 करोड़ रुपए की राशि के हैं और 1977 की कीमतों के आधार पर यह राशि 16,178 करोड़ रुपए की होती है। यदि इस राशि को हम अपने किसानों को ही दे देते तो भारत औद्योगिकीकरण में भी काफी सफलता प्राप्त कर लेता, जैसा कि हमारे पाठक आगे के पृष्ठों में देखेंगे। इसका यह परिणाम होता कि कृषीतर वस्तुओं और सेवाओं में वृद्धि होती और साथ ही साथ इस अवधि में अधिक रोजगार बढ़ता और संसार में हमारा देश जो बिल्कुल ही गरीब माना जाता है वह आज इतना गरीब नहीं होता।

1956-71 वर्षों की अवधि में 29 अगस्त, 1956 को किए गए पीएल-480 समझौते के अधीन अमरीका से रियायती दरों पर किए गए आयात और उपहार के रूप में प्राप्त किए गए खाद्यान्न अलग से तालिका 17 में दिखाए गए हैं।

तालिका 17

खाद्यान्नों के आयात

अवधि	अनाज के रियायती आयात ('000 टन)	
	पीएल-480	अन्य (अधिकांश उपहार)
1956 से 1960	12410.4	—
1961 से 1965	21168.5	—
1966 से 1970	23250.6	3,857.53
1971	1209.8	457.6
1972	—	243.3
योग	58039.3	4575.62

स्रोत : बी॰ आर॰ शिनॉय : 'इण्डियन फूड प्रॉबलम', ए॰ डी॰ शिरोफ मैमोरियल लेक्चर, बंबई, 1973, पृष्ठ 16-17.

पीएल-480 समझौते के अंतर्गत रियायती दरों पर दिए गए खाद्यान्न 580 लाख टन अथवा इस अवधि में कुल आयात का 64.7 प्रतिशत भाग था। यदि पीएल-480 का प्रोग्राम न बन पाता तो भारत को लंबे अर्से तक अकाल का सामना करना पड़ता।

पांच वर्ष पूर्व 17 जनवरी, 1967 को किए गए निर्णय के अनुसार जनवरी 1972 में भारत सरकार ने पीएल-480 और अन्य रियायती दरों के खाद्यान्नों का

आयात बंद कर दिया। वास्तव में इससे ऐसा लगा कि हमारी खाद्यान्न स्थिति इतनी मजबूत हो गई है कि हम सभी वाणिज्यिक आयात बंद करने के योग्य हो गए हैं। इसलिए भारत सरकार ने अमरीका को यह लिखा कि 1 अप्रैल, 1971 को पीएल-480 के समझौते के अनुसार 15.7 लाख टन खाद्यान्न के आयात की शर्तों के अनुसार अब शेष 4.38 लाख टन खाद्यान्न न मंगाने का हमारा प्रस्ताव है। इसका कारण यह दिया गया कि हमारे देश में उत्तम रबी फसल की आशा है।

फिर भी यह शीघ्र ही पता चला कि रियायती दरों पर आयात किए जाने वाले खाद्यान्नों के बंद किए जाने का निर्णय सुविचारित नहीं था। यह निर्णय अधिक आशावान हो जाने के कारण लिया गया था जिसके आधार थे, पहला—हमारे मौसम की तबदीली के बारे में अज्ञानता और दूसरा, आंकड़ों का अतार्किक मूल्यांकन। उदाहरणार्थ, 1971 के अंत में 79 लाख टन खाद्यान्न में से 69 लाख टन खाद्यान्न में आयात किया गया गेहूं था और 10 लाख टन खाद्यान्न देश में ही पैदा किया गया था। 1967 से 1971 के पांच वर्षों की अवधि में लगातार मौसम अच्छा ही रहा। उसके बाद 1971-72 में फसल खराब हो गई। 1970-71 में उत्पादन 1,084.2 लाख टन तक पहुंच गया था जबकि 1971-72 में 1,051.7 लाख टन रह गया और इस प्रकार खाद्यान्न के उत्पादन में 32.5 लाख टन की कमी हो गई। इसलिए हमें फिर खाद्यान्न का आयात करना पड़ा।

अंत में 11 दिसंबर, 1975 के 'टाइम्स आफ इंडिया', नई दिल्ली में यह खबर पढ़ने से अधिक शर्मनाक बात हमारे लिए क्या होगी।

> "कनाडा अंतर्राष्ट्रीय खाद्यान्न सहायता कार्यक्रम के एक अंश के रूप में इस वर्ष भारत को 37.8 करोड़ रुपए के मूल्य का 2,50,000 टन गेहूं देगा। कनाडा के उच्चायुक्त श्री जॉन आर० मेबी ने आर्थिक मामलों के सचिव श्री एम० जी० कौल को यह सुखद सूचना दी।
>
> भारत अनाज या आटा के रूप में गेहूं ले सकता है। कनाडा बंदरगाह पर यह सप्लाई उपलब्ध करा देगा और भारत को इस सप्लाई के ले जाने के लिए जहाज की व्यवस्था करनी होगी। भारत को कुल अनाज चालू वित्तीय वर्ष में ही ले जाना होगा।
>
> कनाडा ने इस वर्ष भारत को सहायता के रूप में गेहूं की मात्रा दुगुनी कर दी। गत वर्ष 1,38,000 टन गेहूं उपहारस्वरूप दिया गया था।
>
> इंगलैंड ने भी यह घोषणा की कि उसने निर्णय किया है कि भारत को 50,000 टन खाद्यान्न सहायता देगा।
>
> साधारण रूप से अमरीका से पीएल-480 के अन्तर्गत ऐसी सहायता

की सबसे बड़ी किस्त मिलने वाली थी। 1976 के प्रारंभ में ही एक औपचारिक समझौता किया जाएगा और 5 लाख टन या इससे अधिक मात्रा में गेहूं प्राप्त होने की आशा की जाती है।"

गत तीन दशाब्दियों या ऐसी ही अवधि में खाद्यान्न-उत्पादन की दिशा में हमारे प्रयत्नों के परिणाम दर्शाने वाली तालिका 18 है : इस तालिका में क्षेत्र की संवृद्धि की दरें, उत्पादन 1967-68 से 1978-79 तक की अवधि के लिए मुख्य फसलों की पैदावार जिसमें 1952-53 से 1964-65 तक के आंकड़े भी दिए गए हैं। वर्ष 1965 66 और 1966-67 में अकाल पड़े जिन्हें इस विश्लेषण से अलग कर दिया गया है। खाद्यान्नों की उत्पादित दरें कई फसलों के लिए दूसरी अवधि की अपेक्षा अधिक हैं। यह स्थिति गेहूं, रागी और ज्वार को देखने से स्पष्ट है लेकिन अन्य बहुत-से मामलों में भी यह स्थिति दिखाई पड़ती है। उत्पादिता की तीव्र संवृद्धि के कारण, हालांकि पहली अवधि की अपेक्षा दूसरी अवधि में खाद्यान्न फसलों के पैदा करने के अधीन भूमि क्षेत्र बहुत धीरे बढ़ा, फिर भी, उत्पादन में तुलनात्मक मंदी नहीं आयी। तथापि, इसके साथ ही यह भी स्वीकार करना चाहिए कि खाद्यान्नेतर उत्पादन पूर्व वर्षों की तुलना में इस उत्तर काल में बहुत अधिक गिर गया जबकि उत्पादिता की दर स्थिर बनी रही।

इस पुस्तक के आगामी पृष्ठों में भारतीय पाठक को यह जानकर खेद ही होगा कि यह प्रगति वस्तुतः बहुत ही कम थी।

तालिका 18

अखिल भारतीय कृषि-उत्पादन की बढ़ती चक्रवृद्धि-दरें, 1952-53 से 1964-65 और 1967-68 से 1978-79 के दौरान फसलों और कृषि-उत्पादन के अन्तर्गत क्षेत्र

फसल/	उत्पादन		क्षेत्र		पैदावार	
फसलों का वर्ग	1952-65	1967-79	1952-65	1967-79	1952-65	1967-79
1	2	3	4	5	6	7
चावल	3.18	2.64	1.47	0.82	1.68	1.80
ज्वार	1.96	2.07	0.40	—1.49	1.56	3.62
बाजरा	1.38	0 28	—0.28	—1.26	1.58	1.53
मक्का	2.80	—0.04	2.28	0.05	0.51	—0.07
रागी	2.22	3.98	0.55	1.00	1.66	2.97
गेहूं	3.30	6.02	2.31	3.16	0.97	2.76

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6	7
जौ	—1.62	—1.95	—1.47	—3.36	—0.16	1.39
अनाज	2.74	3.05	0.90	0.41	1.83	2.07
चना	0.83	0.66	1.15	0.29	—0.31	0.31
दालें	0.72	0.54	1.35	0.74	—0.62	—0.07
खाद्यान्न	2.52	2.77	1.07	0.44	1.12	1.84
मूंगफली	4.65	1.47	3.78	—0.15	0.84	1.60
तिल	—1.24	0.89	—0.24	—0.67	—1.00	1.60
रेपसीड और सरसों	3.28	1.73	2.93	1.07	0.34	0.65
तिलहन	3.46	1.62	2.80	0.25	0.37	1.26
कपास	3.32	2.71	1.22	—0.24	2.08	2.95
जूट	4.24	1.5	3.88	0.64	0.83	0.62
रेशे	3.81	2.43	1.56	—0.13	1.85	2.44
चाय	2.20	3.66	0.64	0.57	1.56	3.08
कॉफी	7.78	5.29	2.71	4.24	4.94	1.00
गन्ना	5.91	3.80	4.03	2.96	1.82	0.79
तम्बाकू	2.96	2.18	1.46	—0.23	1.48	2.43
खाद्यान्नेतर	3.87	2.88	2.31	1.19	1.24	1.25
सभी फसलें	2.90	2.81	1.31	0.63	1.21	1.63

स्रोत : 'आर्थिक सर्वेक्षण', 1979-80, तालिका 2.2.

टिप्पणी : 1969-70 के अंतिम तीन वर्षों के लिए विभिन्न वर्गों की फसलों की वृद्धि-दरें समरूप तोल आरेखन में दिखाई गई हैं।

तालिका 19 (पृ०48-49) में खाद्यान्न-उत्पादन के क्षेत्र की हमारी उपलब्धियों को दर्शाया गया है जो खाद्यान्न को विभिन्न वस्तुओं के आंकड़ों के रूप में परिवर्तित की गई हैं और जिन्हें 1951 से प्रति व्यक्ति की दर से हम लोगों को उपलब्ध कराया गया है।

तालिका 19

कतिपय महत्त्वपूर्ण उपभोग की निवल उपलब्धि

वर्ष	जनसंख्या (दस लाख टनों में)	अनाज का निवल उत्पादन (दस लाख टनों में)		अनाज	अनाज का निवल आयात प्रति दिन (ग्राम) दालें	योग	प्रति व्यक्ति निवल प्राप्ति प्रति वर्ष (किलोग्राम) खाने योग्य तेल*	वनस्पति	चीनी (नवम्बर से अक्टूबर)†
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
1951	363.4	40.10	4.80	334.1	60.8	394.9	2.7	एन० ए०	3.0
1956	397.3	50.43	1.39	360.5	70.4	430.9	2.5	0.7	5.0
1961	442.2	60.89	3.49	399.7	69.0	468.7	3.2	0.8	4.7
1962	452.2	61.85	3.64	399.0	62.0	461.0	3.2	0.7	5.8
1963	462.0	60.19	4.55	384.0	59.8	443.8	3.1	0.8	5.4
1964	472.1	61.79	6.26	401.0	51.0	452.0	2.7	0.8	4.9
1965	482.5	67.33	7.45	418.6	61.6	480.2	3.6	0.8	5.1
1966	493.2	54.60	10.34	360.0	48.2	408.2	2.7	0.8	5.7
1967	504.2	57.65	8.66	361.7	39.7	401.4	2.7	0.7	5.1
1968	515.4	72.58	5.69	404.1	56.0	460.1	3.4	0.8	4.3
1969	527.0	73.14	3.85	397.9	47.3	445.2	2.6	0.9	5.0
1970	538.9	76.83	3.58	403.1	51.9	455.0	3.0	0.9	6.1
1961-70 की अवधि पर वार्षिक औसत				392.9	54.6	447.5	3.02	0.80	5.21

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
1971	551.2	84.53	2.03	417.5	51.3	468.3	3.5	1.0	7.3
1972	563.5	82.31	(—) 0.49	419.5	47.0	466.5	3.0	1.1	6.7
1973	575.9	76.23	3.59	381.2	41.2	422.4	2.4	1.0	6.1
1974	588.3	82.82	4.83	410.1	40.7	450.8	3.4	0.8	6.1
1975	600.8	78.59	7.39	366.7	39.9	406.6	3.3	0.6	5.9
1976	613.3	94.50	6.44	402.5	50.8	452.8	3.5	0.8	6.2
1977	625.8	87.33	0.41	391.2	43.5	434.7	3.2	0.9	6.2
1978	638.4	100.13	(—) 1.00	426.6	44.3	470.9	3.8	0.9	7.3
1979 (P)	651.0	104.30	(—) 0.9	433.7	44.8	478.5	4.0	1.0	9.8
1971-79 की अवधि पर वार्षिक औसत				405.44	44.78	450.22	3.34	0.90	6.84
1962-79 की अवधि पर वार्षिक औसत				398.85	49.97	448.82	3.17	0.85	6.00

(P) का प्रयोजन प्रॉवीजनल (अस्थायी) से है।

*इसमें मूंगफली का तेल, रेपसीड और सरसों का तेल, गिरी का तेल, तिल का तेल, काले तिल का तेल, सूर्यमुखी का तेल, सोयाबीन का तेल, कुसुम का तेल शामिल हैं। लेकिन इसमें वे सभी तेल शामिल नहीं किए गए हैं जिनका प्रयोग वनस्पति के निर्माण के लिए किया जाता है।

†इसमें घरेलू उपयोग के लिए वास्तविक आपूर्ति वाली वस्तुएं शामिल हैं।

स्रोत : 'आर्थिक सर्वेक्षण' भारत सरकार 1979-80, तालिका संख्या 1.11 और 1.13 (जिसमें 1951 से संबंधित आंकड़े छोड़ दिए गए हैं जो 'आर्थिक सर्वेक्षण', 1974-75 से लिए गए हैं)।

टिप्पणियां :

1. उत्पादन आंकड़ों का संबंध कृषि वर्ष जुलाई-जून से है। उदाहरणार्थ, 1961 के आंकड़ों का संबंध जुलाई 1960—जून 1961 के उत्पादन से संबंधित है।
2. सकल उत्पादन का 87.5 प्रतिशत निवल उत्पादन लिया गया है जिसमें 12.5 प्रतिशत भोजन और बीज की आवश्यकताओं अथवा अवशिष्ट के लिए उपलब्ध किया गया है।

यह विवादहीन तथ्य है कि एक लंबी अवधि से भारत ने खाद्यान्न की कमी के कारण काफी कष्ट उठाया है। लेकिन हम 'खाद्यान्न की कमी' को तकनीकी ढंग से किस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं या खाद्यान्न की कमी का किस तरह से अनुमान लगाया जा सकता है? संयुक्त राष्ट्र खाद्य और कृषि संगठन द्वारा निर्धारित मानक मात्रा और भारतीयों के औसत राशन की मात्रा में जो अंतर है वह, सुस्पष्ट रूप से, खाद्यान्न वस्तुओं की 'कमी' की मात्रा है। खाद्यान्न और कृषि संगठन तथा हमारे योजना आयोग ने न्यूनतम स्तर 2250-2400 कैलोरी रखा है जो हमारे देश की जलवायु के हिसाब से साधारण स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए प्रति व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

लेकिन चूंकि अलग-अलग किस्म के अनाजों और अन्य खाद्यान्न की वस्तुओं की कैलोरी और पोषक तत्त्व अलग-अलग होते हैं, अतः अलग-अलग वस्तुओं के लिए उपभोक्ताओं की प्राथमिकता अंतरण के कारण किसी भी व्यक्ति के पोषक तत्व की आवश्यकताओं को निर्धारित करना कठिन हो जाता है। और इसीलिए, सारे राष्ट्र के संबंध में भी यही बात लागू होती है। अतः अलग-अलग या सामूहिक रूप में किस्म-किस्म के अनाजों या वस्तुओं को देखते हुए स्तर निर्धारित करना कठिन है। फिर भी एक रास्ता है। नौसेना और सेना के राशन की मात्रा को संगत ठहराया जा सकता है जो अधिक संतुलित और पोषक तत्त्वों से भरी खुराक होती है। सरकार का यह भी दायित्व है कि कैदियों को उपयुक्त स्वास्थ्य में रखा जाए। अतः जेलों में दिया गया राशन इस संबंध में संगत ठहराया जा सकता है, चाहे इसका आधार दंड द्वारा निर्धारित खुराक ही क्यों न हो। यह विदित होगा कि खाद्यान्नों का कितना ही भारी आयात क्यों न किया गया हो फिर भी वह खाद्यान्न जो गत कई दशाब्दियों से हमारे लोगों को उपलब्ध है उसके पोषक तत्त्व सेना और नौसेना तथा जेलों में दिए जाने वाले राशन की अपेक्षा कहीं कम हैं। (देखिए तालिका 20, पृ० ५१)

तालिका 20

सेना और नौसेना के लिए राशन की वर्तमान मात्रा

(प्रति आहार प्रति व्यक्ति—ग्रामों में)

क्रम संख्या	वस्तु का नाम	सेना	नौसेना	अन्य विवरण
1.	आटा	600	600	
	या			
	चावल + आटा	400 + 200		
2.	वेसन	15		—
3.	दालें	90	90	
4.	खाने का तेल (हाइड्रोजिनेटेड)	70	80	
5.	चीनी	90	70	
6.	दूध ताजा/स्तरीय/मिला हुआ	230 मिली०	190	
7.	साफ किया ताजा मांस/ (हड्डी सहित)	100	180	
8.	ताजी सब्जियां	180	160	
9.	ताजे आलू	110	110	
10.	ताजे फल—खट्टे	50	50	
	अथवा मीठे	100	100	
11.	ताजा प्याज	60	60	
12.	चाय	8	8	
13.	पानी से निकाला नमक	20	20	
14.	पिसा हुआ गरम मसाला	16	16	

टिप्पणी : सैन्य दलों/नौसैनिकों की शांति के क्षेत्रों में दिया जाने वाला राशन 5 प्रतिशत तक उस स्थिति में काट लिया जाता है जब उसकी संख्या 200 से अधिक हो और यदि संख्या 200 या 200 से कम हो तो राशन में 2.5 प्रतिशत की कटौती की जाती है।

हमारे देश में अलग-अलग वर्गों के जो बंदी हैं उनमें से प्रत्येक कैदी को प्रतिदिन औसत राशन इस प्रकार दिया जाता है :

	अनाज	दालें	खाद्य तेल	चीनी
	ग्राम	ग्राम	ग्राम	ग्राम
'ए' और 'बी' वर्ग के कैदी	520	112	50	51
'सी' वर्ग के कैदी				
(क) श्रम करने वाले	619	115	28	18
(ख) श्रम न करने वाले	520	112	26	16

बीमार किशोर, गर्भवती और धाय महिलाओं आदि के लिए आहार की मात्रा अलग-अलग होती है, जैसाकि पिछली तालिका में राशन की औसत मात्रा दी गई है। इसके अलावा कैदियों को सब्जियां, दूध अथवा चाय/काफी आदि दी जाती हैं।

तालिका 21 में सेना, नौसेना और जेल के राशन की मात्राएं दिखाई गई हैं और कुल मिलाकर हमारे लोगों के लिए प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की वस्तुओं को भी दर्शाया गया है। यह स्थिति 1971 से 1979 तक 9 कृषि वर्षों की अवधि के औसत के रूप में दिखाई गई है। यह अवधि हमारे देश के कृषि उत्पादन की दृष्टि से सर्वोत्तम अवधि रही है। सेना, नौसेना और जेल के राशन की मात्रा की तुलना उपलब्ध राष्ट्रीय खाद्यान्न के आंकड़ों से करने पर यह विदित होता है कि गत दो तालिकाओं में सेना और कैदियों के लिए राशन में जो आंकड़े दिए गए हैं वे तालिका 21 में 20 प्रतिशत कम दिखाए गए हैं। इसका कारण यह है कि 80 प्रौढ़ व्यक्ति उतने ही भोजन का उपभोग करते हैं जितना कि सभी आयु वर्ग के 100 व्यक्ति भोजन करते हैं।

तालिका 21

भारत में सामान्य लोगों—स्थल सेना, नौसेना कर्मचारियों और कैदियों में से प्रति व्यक्ति खाद्य-वस्तुओं की उपलब्धता

	(प्रति व्यक्ति निवल उपलब्धता)					
	प्रतिदिन (ग्रामों में)			प्रतिवर्ष (किलोग्राम में)		
	अनाज	दालें	योग	खाने के तेल*	वनस्पति	चीनी (नवम्बर से अक्टूबर तक)*
प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय उपलब्धता (वार्षिक औसत : 1971-79)	405.44	44.78	450.22	3.34	0.90	6.84
सेना का राशन	492.0	72.0	564.0	20.16	—	25.9
नौसेना का राशन	480.0	72.0	552.0	23.04	—	20.0
जेल का राशन						
(i) 'ए' वर्ग एवं वर्ग 'ब'	416.0	89.6	505.6	18.25	—	18.62
(ii) 'सी' वर्ग						
(अ) श्रम करने वाले	495.2	92.0	587.2	10.22	—	6.57
(आ) श्रम न करने वाले	416.0	89.6	505.6	9.49	—	5.24

*रक्षा कर्मचारियों के लिए खाने के तेल में वनस्पति घी शामिल है।

*'सी' वर्ग के कैदियों के लिए 'चीनी' में गुड़ शामिल है।

राष्ट्रीय स्तर पर दालों की निम्न उपलब्धता उस समय चिंताजनक हो जाती है जब यह महसूस किया जाता है कि अधिकतर भारतीय शाकाहारी हैं। उनके लिए दालें ही प्रोटीन का एकमात्र साधन हैं।

यह सच है कि 1951 के बाद, जब से यह योजना शुरू हुई है, देश में खाद्यान्न का उत्पादन ढाई गुना बढ़ा है, लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि इसके साथ ही साथ इसी अवधि में जनसंख्या भी लगभग दुगुनी हो गयी है और प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धता 1951 के ही समान है—जो सामान्य आहार से काफी कम है। इस दुःख-दायी सत्य को अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए कि 1970-79 की अवधि में अनाज की कुल उपलब्धता अर्थात् 1,033 करोड़ टन में से 242.25 करोड़ टन या 23.5 प्रतिशत भाग आयात किए गए खाद्यान्न का था। 1971-72 में जिस 4.9 लाख टन अनाज का निर्यात किया गया था वह बंगला देश को सहायता के रूप में दिया गया था। (इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारी आवश्यकताओं से अधिक उत्पादन था।) और 1977-79 के दो वर्षों की अवधि में हमने अपने देश से 195 लाख टन अनाज बाहर भेजा। यह गेहूं के उधार को चुकाने के लिए था जो हमें रूस से उधार मिला था।

इसके अलावा तालिका 21 के संदर्भ से यह विदित होगा कि हम लोगों को अनाज स्तर खुराक की जितनी आवश्यकता होती है अथवा सेना या नौसेना कर्म-चारियों या कैदियों को उपलब्ध कराई जाती है उसकी तुलना में कहीं कम है। इसके अलावा, यह तथ्य चिंताजनक है कि प्रति व्यक्ति दालों की उपलब्धता (पृष्ठ 48-49 पर पर तालिका 19 देखें) और दूध, घी, अथवा मक्खन की मात्रा ठीक स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से बराबर कम होती जा रही है। इसके अतिरिक्त भी अंग्रेजों के भारत छोड़ने के समय जो स्थिति थी, उसकी तुलना में इस स्थिति का बहुत कम अथवा कोई अर्थ नहीं है जब यह महसूस किया जाता है कि उपभोग की मात्रा बहुत कम थी, फिर भी 1921 से भारत निवल रूप से अनाज का आयात कर रहा है। 1947 से पूर्व 25 वर्षों के दौरान खाद्यान्न का उत्पादन यथार्थतः एक जैसा ही बना रहा जिसमें (0.11) प्रतिशत प्रतिवर्ष की मामूली संवृद्धि हुई जबकि जनसंख्या में प्रतिवर्ष 1.5 प्रतिशत की संवृद्धि हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय स्तर पर कमी समय के साथ-साथ बढ़ती गई।

आज (1980) में 140 लाख व्यक्ति वर्तमान जनसंख्या में प्रतिवर्ष बढ़ते जा रहे हैं—यह संख्या आस्ट्रेलिया की कुल जनसंख्या के बराबर है और इसके लिए प्रतिदिन प्रति व्यक्ति 400 ग्राम के हिसाब से प्रतिवर्ष 25 लाख टन अनाज की आव-श्यकता होगी। इस प्रकार तालिका 18 में यह दर्शाया गया है कि 1967 से 1979 तक उत्पादन में कितनी वृद्धि हुई है और यह विदित होगा कि यह उत्पादन जनसंख्या की वृद्धि के साथ ही साथ है। इसलिए हम लगातार खाद्यान्न की वृद्धि की आवश्यकता की न तो अवहेलना कर सकते हैं और न उसके प्रति उदासीन हो सकते हैं। यदि ऐसा नहीं किया तो हमारे देश में खाद्यान्न की कमी आयात की जाने वाली क्षमता से कहीं अधिक होगी। क्या वह किसी अकेले देश की निर्यात की क्षमता के भीतर ही होगी, यह एक अलग बात है।

हमारे देश में एक सुखद स्थिति अभी हाल में ही आई है कि हमने खाद्यान्न के उत्पादन में न केवल आत्मनिर्भरता ही प्राप्त की है अपितु खाद्यान्न के निर्यात की क्षमता

को भी बढ़ाया है। यह स्थिति 1971 में नहीं थी। 1971 के समान ही भारत में जनता सरकार के स्थापित होने पर खाद्यान्न का स्टॉक 190 लाख टन था, यह स्टॉक मार्च 1977 में जनता सरकार ने अपनी भूतपूर्व सरकार से लिया था। यह स्टॉक विदेशी गेहूं का स्टॉक था जिसे 2,646.48 करोड़ रुपए की भारी राशि से वर्ष 1974, 1975 और 1976 में एकत्र किया गया था। इस देश के नेतृत्व को यह भी याद रखना चाहिए कि हमारे देश की 50 प्रतिशत से अधिक जनता अपनी आवश्यकता के अनुसार खाद्यान्न मोल नहीं ले पाती क्योंकि उसकी क्रयशक्ति बहुत कम है। इसके अलावा प्रति पांच वर्षों की अवधि में से केवल दो वर्षों में अच्छी फसल होती है: शेष तीन वर्षों में या तो कम पैदावार होती है या खराब पैदावार होती है। इसलिए अभी तक हम इस संकट से मुक्त नहीं हुए हैं।

यह भी नहीं भूलना चाहिए कि हम लोगों को जीवन संघर्ष और निराशा में बिताना पड़ता है और यह स्थिति हमारे मूल्यांकनों का उपहास करती है तथा हमारे स्वप्नों को धुंधला बनाती है और यह भी अधिक दुःख की बात है कि हमारे देश में भूखे बच्चे की आंखों में केवल निराशा ही झलकती है। इसलिए हमारे राजनीतिक नेताओं के लिए इससे बढ़कर राष्ट्र भावना का उद्देश्य यह होगा कि दस वर्षों में ही यह स्थिति आ जाए कि कोई भी बच्चा भूखे पेट न सोए। कोई भी परिवार अगले दिन के लिए आतंकित न हो और भविष्य में कोई भी भारतीय कुपोषण से अचेतन न हो।

कम कृषि उत्पादन ने खाद्यान्न की कमी को बढ़ाया है, इससे कुपोषण (जैसा कि अध्याय 1 में पहले ही बताया जा चुका है) बढ़ा है और इसके फलस्वरूप भारी मात्रा में आयात किए गए हैं (जिसके कारण शेष राशियों के भुगतान में कठिनाइयां आ रही हैं)। पाठक को शनैः-शनैः यह विदित होगा कि कृषि क्षेत्रक में असंतोषप्रद कार्य हुआ है जिसका उत्तरदायित्व इस कठोर तथ्य पर आधारित है कि 1964 से प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की दृष्टि से 1976 में भारत में दस लाख से अधिक जनसंख्या वाले विश्व के 125 देशों में 11वें स्थान से हटकर 26वें स्थान पर आ गया है।

फिर भी आगे बढ़ने के पहले हम अनिश्चित काल तक बाहर से खाद्यान्न आयात किए जाने की संभावना अथवा आयात करते रहने की संभावना की जांच कर लें। खाद्यान्न बाहर से तभी प्राप्त किए जाएंगे जब या तो बाहर का कोई स्रोत या बहुत-से खाद्यान्न स्रोत हमारे राजनीतिक नियंत्रण में हों ताकि ऐसी स्थिति में खाद्यान्न उत्पादन और आपूर्ति के सुलाभों का कोई अर्थ न हो; या यदि कच्चे माल के साथ ही साथ हमारे देश में विशेष प्रकार के कौशल उपलब्ध हैं तब हमारे लिए यह अधिक मितव्ययी होगा कि हम कच्चे माल के विनिमय की अपेक्षा विनिर्मित वस्तुओं के विनिमय से खाद्यान्न का आयात कर सकें। प्रसिद्ध इतिहासकार आर्नोल्ड जे० टआएनबी ने कहा है, "सभ्यता के इतिहास के प्रारंभ से ही शासन सत्ता किसी न किसी प्रकार ऐसे उपाय और साधन खोजने में लगी हुई है कि अधिक अन्न उपजाऊ क्षेत्रों से काम में न

आने वाले खाद्यान्न को उन क्षेत्रों में भेजा जाए जहां खाद्यान्न की बचत नहीं है या खाद्यान्न की कमी है। सर्वप्रथम ऐसे उपाय और साधन भौतिक होने चाहिए, यानी बचे हुए खाद्यान्न का यातायात किया जाना चाहिए। दूसरे, उन्हें आर्थिक या राजनीतिक या दोनों ही से अवरुद्ध होना चाहिए। बचे हुए खाद्यान्न को खरीदना चाहिए या उस पर अधिकार कर लेना चाहिए ताकि वह उन भूखों तक पहुंच सके जिन्हें खाद्यान्न की आवश्यकता है। खाद्यान्न खरीदने के लिए आर्थिक क्रय शक्ति की आवश्यकता है और खाद्यान्न पर आधिपत्य करने के लिए राजनीतिक और सैनिक शक्ति की आवश्यकता है।

फिर भी खाद्यान्न के ऐसे बाहरी साधन नहीं हैं जो हमारे राजनीतिक नियंत्रण में हों और जिन पर हमारा आधिपत्य हो। कोई खाली जमीन नहीं है या खेती के लिए कोई खाली जमीन नहीं दिखाई देती जिसमें बस्ती बसाई जा सके या जिसे उर्वर बनाकर खेती की जा सके। संसार की परिस्थितियां पहले ही तेजी से बदल रही हैं और वास्तव में वह पहले ही बहुत बदल चुकी हैं इसलिए हम विदेश से लगातार खाद्यान्न का आयात नहीं कर सकते जैसा कि प्राचीन रोम और ग्रीस अथवा आधुनिक ब्रिटेन या यूरोप ने अपने सामंतशाही स्वर्णिम दिनों में किया था।

औद्योगिक सामान के निर्यात और अर्जित क्रय शक्ति के आधार पर खाद्यान्न की मात्रा के आयात का अन्य रास्ता ही शेष बचता है। इस विधि में तीन बाधाएं हैं। पहली बाधा यह है कि जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, उन देशों से जिनसे कि हम आज खाद्यान्न खरीदते हैं उनकी अपनी जनसंख्या भी बढ़ रही है और उनकी भूमि के कटाव की संभावना है अथवा राजनीतिक कारणों से चाहे वह समर्थ हों अथवा समर्थ न हों, वे हमें भविष्य में खाद्यान्न नहीं बेचना चाहते या खाद्यान्न बेचने के साथ असंभव शर्तें लगाना चाहते हैं अथवा अमरीका जैसे देश में उन औद्योगिक वस्तुओं के प्रयोग की आवश्यकता न हो जो भारत उन्हें बेचना चाहे अथवा खाद्यान्न के बदले में देना चाहे। दूसरे, मुक्त व्यापार या प्रतियोगिता आज कहीं भी नहीं देखी जाती। प्राय: सभी देश जहां तक कि वे स्वयं आत्मनिर्भर हों, बाहर के निर्मित माल को खरीदना नहीं चाहते और यदि उन्हें उस माल की आवश्यकता भी होती है तो वे चुंगी जैसे अनेक कर लगा देंगे। तीसरे, भारत जैसे बड़े और अधिक जनसंख्या वाले देश किसी माल को विश्व बाजार में बेचें ताकि पर्याप्त मात्रा में आर्थिक सुधार में सहायता मिल सके, तो वे विश्व-व्यापार में उस माल का पर्याप्त मात्रा में प्रतिनिधित्व कराएंगे। इसलिए इससे अन्य बड़े-बड़े देशों को भी गंभीर रूप से प्रभावित होना पड़ेगा जो वही माल अथवा उसी प्रकार के माल का निर्यात कर रहे हैं। वे विभिन्न साधनों द्वारा अपने को बचाना चाहते हैं जिसमें संभावित कीमतों की कटौतियां भी शामिल हैं। इसलिए भारत को जिस खाद्यान्न की आवश्यकता है उसका मूल्य बढ़ता जाएगा जबकि बनाए गए माल की कीमत में गिरावट आएगी। इसलिए हमें औद्योगिक माल को अधिक मात्रा में तैयार करना होगा ताकि हम उस राशि से उतनी ही मात्रा में अन्न खरीद सकें जितना कि हम लेते रहे हैं। हमारी आर्थिक वृद्धि उसी हिसाब से आश्रित हो जाएगी जिस हिसाब से हमने

निर्यात में वृद्धि की है। लेकिन यह संभव नहीं होगा कि हम निर्यात में बराबर वृद्धि करते रहें जैसा कि खाद्यान्न की कीमतें अन्य माल की तुलना में बढ़ती गई हैं। खाद्यान्न की कीमतों में वृद्धि औद्योगिक लागतों की वृद्धि होगी और जो लोग खेती कर रहे हैं उन्हें हटाकर उद्योगों में लगाया जाएगा। श्री सी० राजगोपालाचारी ने कहा है, "यह बात विचारणीय नहीं है कि हम किसी भी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से भारत को औद्योगिक देश में बदल लें जबकि हम विदेशों से आयात किए गए खाद्यान्न पर निर्भर करते हैं और इसके बदले स्टील, कपड़ा, चीनी या चाय तक निर्यात करके आयात किए गए खाद्यान्न का मूल्य चुकाते हैं।"

आज उत्तरी अमरीका विश्व की सबसे बड़ी अनाज की खत्ती है। जहां से अन्य कई राष्ट्रों की तरह हम भी गत 40 वर्षों या इतनी ही अवधि से खाद्यान्न का आयात कर रहे हैं। जोनाथन पावर और अन्ने-मैरी हौलेंसटीन ने अभी हाल में ही प्रकाशित अपनी पुस्तक 'वर्ल्ड ऑफ हंगर' (टैम्पल-स्मिथ, लंदन, 1976, पृष्ठ 31) में यह कहा है कि उत्तरी अमरीका की एक ही अनाज की खत्ती का लगभग समाप्तप्राय रिजर्व, बढ़ती हुई मांग और संपूर्ण विश्व की आश्रितता को देखकर यह लगता है कि यदि खाद्यान्न के उत्पादन में कुछ ही प्रतिशत की कमी आ गई तो बहुत भयंकर स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। इन तथ्यों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विश्व की वित्तीय पद्धति डालर को अपना आधार बनाकर नहीं चल सकेगी। उत्तरी अमरीका की कृषि को विश्व पोषण की सुरक्षा के लिए गारंटी नहीं माना जा सकता।

> "निर्भरता की यह स्थिति भयानक केवल इसलिए नहीं है कि इससे करोड़ों लोगों की सुरक्षा का संबंध है बल्कि इससे अधिक यह सत्ता की राजनीति के निहितार्थों के कारण है। अमरीका विश्व भर में अधिक मात्रा में अनाज की आपूर्ति करता है। अतः वह विश्व के अनेक भूखे लोगों का भाग्य-विधाता है। एक सी० आई० ए० रिपोर्ट में यह कहा गया है कि इससे अमरीका को ऐसी शक्ति मिल गई है जो उसे इससे पूर्व कभी नहीं मिली थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान प्राप्त शक्ति की अपेक्षा उसे उचित शक्ति मिली है जिसका संबंध आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व से है। राजनीतिक तौर पर यही नीति अनाज के संबंध में अपनाई जा सकती है जिसे तेल-निर्यात करने वाले अरब देश ने तेल के साथ योम किपूर युद्ध के दौरान अपनाई थी। सेक्रेटरी ऑफ स्टेट हेनरी किसिनजर और कृषि सचिव अर्ल बुज ने इस तथ्य को छिपाने की कोशिश नहीं की है कि संयुक्त राज्य अमरीका 'खाद्यान्न के हथियार' को 'तेल के हथियार' के विरुद्ध काम में लाने के लिए तैयार है। विश्व में अमरीका का अनाज बाजार अरब के ऊर्जा बाजार से कहीं बड़ा है।"

आयात किए गए खाद्यान्न पर निर्भर न रहने के अन्य तर्क भी हैं : अर्थात् आत्मसम्मान की मांग, निर्यात करने वाले देश का हम पर प्रभुत्व जमाने की संभावना, भारत जैसे विशाल देश को लगातार निर्यात करने वाले किसी एक देश अथवा कई देशों

के बराबर बने रहने की असंभाव्यता युद्ध के समय हमारे लिए खाद्यान्न भिजवाते रहने की असमर्थता और धनी अथवा शक्तिशाली राष्ट्र बनने के हमारे स्वप्न को साकार बनाने की हिमाकत को छोड़ देने की बाधा आदि।

निष्कर्ष में, यह कहना उपयुक्त है कि हमें अपने खाद्यान्न के उत्पादन के सभी प्रयत्नों को बढ़ाना चाहिए ताकि हम अमरीका के मनमाने और राजनीतिक विवेक पर आश्रित न हो सकें और इसके लिए अन्य देश पर भी आश्रित न हों।

(ख) कच्चे माल का उत्पादन

खाद्यान्न के अलावा मनुष्य को अन्य मांगों अथवा आवश्यकताओं की पूर्ति भी करनी होती है; उदाहरणार्थ, जूते और कपड़े, आवास अथवा गृह-निर्माण की वस्तुएं, स्वास्थ्य अथवा चिकित्सा का अनुसरण, शिक्षा अथवा बोध के साधन, संचार और परिवहन के साधन और अन्य साज-सामान जिनकी आवश्यकता सभी मनुष्यों को होती है, यथा—घड़ी।

अब मनुष्य की आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए इन साधनों में से कोई भी साधन प्रकृति में उसी रूप में उपलब्ध नहीं है जो मनुष्य द्वारा प्रयोग में आता है अथवा जिसका मनुष्य द्वारा उपभोग होता है। कतिपय खाद्यान्न वस्तुओं, यथा—फल, दूध, जल और जड़ वाली वनस्पतियां और कतिपय खाद्यान्नों को छोड़कर उन सभी वस्तुओं को तैयार किया जाता है जो जमीन अथवा कृषि-फसलों, वनों अथवा पशुओं और खदानों (जिन्हें कभी-कभी कृषि के अंतर्गत 'प्राथमिक क्षेत्रक' के रूप में वर्गीकृत किया जाता है) से सीधे ही उत्पन्न की जाती हैं।

कृषि-फसलों से उत्पन्न कच्चा माल कतिपय उद्योगों यथा कपड़ा, तेल निकालने, चावल कूटने, आटा, जूट, चीनी, वनस्पति, तम्बाकू-निर्माण आदि के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार वनरोपण और पशुपालन से भी अनेक प्रकार की वस्तुएं उपलब्ध हो जाती हैं, यथा—लकड़ी, गोंद, लीसा, चमड़ा और खालें, हड्डियां आदि जिनसे असंख्य उद्योगों का आधार बनता है। इसके अलावा, खदानों से लोहा, तांबा, मैग्नीशियम, बॉक्साइट और अन्य धातुएं तथा कोयला और पत्थर भी निकाले जाते हैं जो हमारे देश में पूंजीगत वस्तुओं के उद्योग के विकास के लिए आवश्यक हैं।

इस प्रकार समस्त जनसंख्या के लिए खाद्यान्न उपलब्ध कराने के अतिरिक्त कृषि ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है जो उपभोक्ता उद्योगों को चलाने के लिए लगातार और उत्तरोत्तर बढ़ते हुए कच्चे माल उपलब्ध कराती है।

उपभोक्ता उद्योग किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में मुख्य भूमिका निभाते हैं, विशेषकर हमारी सघन कृषिक अर्थव्यवस्था में। इस प्रकार के उद्योग बिलकुल ही नहीं चलाए जा सकते या उनको प्रभावकारी ढंग से नहीं चलाया जा सकता जब तक कि उनके लिए भौतिक निविष्टियां नहीं मिल पातीं अथवा यदि वे बराबर गिरती हुई शर्तों पर ही प्राप्त की जा सकती हैं। बाहर से कच्चे माल का आयात अंतिम रूप से तैयार

की गई वस्तुओं के लिए अधिक मूल्य बढ़ाने वाला होगा। ये कीमतें ऐसी होंगी कि हमारे देश के अधिकांश लोग इसे नहीं चुका पाएंगे। इसके साथ ही साथ विदेशी बाजारों में उनकी प्रतियोगिता करना भी मुश्किल है जो आयात किए गए सामान को कम करने में प्रोत्साहन देंगी। जिसका परिणाम यह होगा कि इस समय देश में जो उद्योग हैं वे बंद हो जाएंगे, लोगों की दुर्दशा बढ़ेगी और भुगतानों के शेष और खराब होते जाएंगे।

यदि किसी देश में कृषि उत्पादन मांग से अधिक तीव्र गति से नहीं बढ़ पाता अथवा (खाद्यान्न और) कच्चे माल बाहर से सरलता से सस्ते दामों पर उपलब्ध नहीं हो पाते, जैसा कि समय बीत जाने पर नहीं हो सकेगा, तो कच्चे माल की कीमतें अन्य वस्तुओं की तुलना में बढ़ जाएंगी और न केवल उद्योग विकसित ही न हो सकेंगे अपितु वे कम हो जाएंगे। मजदूरों को काम नहीं मिलेगा और उनकी अवनति होने लगेगी। अधिकाधिक व्यक्ति कृषि करना ही प्रारंभ करेंगे, क्योंकि पाठक दी गई दशाओं में यह पाएगा कि किसी भी क्षेत्र में अधिकांश लोग अधिक मात्रा में (खाद्यान्न और) कच्चा माल पैदा करते हैं।

इसलिए कच्चे माल का उत्पादन बढ़ाना ही होगा। अधिकांश जमीन और हमारे अधिकांश मजदूर आज केवल रहन-सहन के लिए ही खाद्यान्न की फसलों के उगाने में समर्पित रहेंगे। इस प्रकार अनुपात की दृष्टि से कुछ ही जमीन फसलों के लिए है जिससे कि उद्योगों के लिए कच्चे माल की व्यवस्था हो सकती है अथवा अतिरिक्त निवेश के लिए फसलों का निर्यात किया जा सकता है।

हमारे देश में खेती की जाने वाली भूमि की प्रतिशतता गैर खाद्यान्न फसलों के उगाने के लिए 1911-16 की अवधि में 17.0, 1948-53 की अवधि में 19.1 और 1965-70 की अवधि में 20.56 रही है। फिर भी 1975-76 और 1976-77 में खाद्यान्नेतर फसलें कुल बोए जाने वाले क्षेत्र की 19.4 प्रतिशत रही हैं। इसलिए 1947 में राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने से भी इस अनुपात में या तो बहुत कम या बिल्कुल भी कोई अंतर नहीं रहा है। आज जो सीमित क्षेत्र प्राप्त है उसमें खाद्यान्नेतर फसलों की गुणवत्ता और मात्रा में सुधार लाने के लिए विशेष कदम नहीं उठाए गए हैं, जिसका परिणाम यह हुआ है कि कृषि से उपलब्ध होने वाले कच्चे माल को भी आयात किया जाता है। यदि कपास के उदाहरण को ही लें जो कपड़ों के लिए कच्चे माल का काम देती हैं—मनुष्य के लिए यह खाद्यान्न के बाद दूसरी आवश्यकता है। 1971-72 तक यह देश विश्व-बाजार में लंबे रेशे की कपास खरीदने में सबसे अग्रणी था। यहां तक कि जापान और अमरीका जैसे समृद्ध देश भी हमारी तुलना में केवल एक-चौथाई कपास खरीद पाते हैं। सबसे अधिक खराब बात यह भी है कि भारत लंबे रेशे वाली कपास का लगभग 90 प्रतिशत मिस्र या सूडान से खरीदता है जिसका उपयोग सुपर फाइन साड़ियों, मलमल, वायल, कैम्ब्रिक, धोतियां और पापलीन के तैयार करने में किया जाता है जो हमारे घरेलू बाजारों की मांग है। इस कपास का 10 प्रतिशत भाग न तो अधिक अच्छा बनाया जा सका और न उसके अच्छे कपड़े

बनाए गए जो कि निर्यात किए जा सकें। इससे अधिक स्पष्ट और कोई उदाहरण नहीं है जिससे यह विदित हो कि राष्ट्रीय संसाधनों का कितना दुरुपयोग किया गया है।

वर्ष 1950-51, 1960-61, 1965-66 और 1970-71 में आयात की गई कपास का मूल्य क्रमशः 100.1 करोड़ रुपए 128.8 करोड़ रुपए 72.8 करोड़ रुपए और 98.8 करोड़ रुपए रहा है। तीसरी पंचवर्षीय योजना के दौरान में कपास की 35 लाख गांठों और जूट की 15 लाख गांठों का आयात किया। 1970-71 से मिस्र और सूडान की ऊंची किस्म की कपास का आयात धीरे-धीरे कम होता गया है। यह सौभाग्य की बात है कि हाल ही में हमारे देश में कपास की अच्छी किस्में बढ़ती जा रही है। अभी हाल ही 31 जनवरी, 1975 को भारत ने पाकिस्तान के साथ एक समझौता किया है जिसके अंतर्गत आगामी वर्ष में 25 करोड़ रुपए की कीमत की कपास की दो लाख गाठों का आयात किया जाएगा। सितम्बर 1975-76 के मौसम में कपास की फसल बहुत खराब रही। अतः भारत ने सितम्बर 1976 तक 140 करोड़ रुपए की विदेशी कपास खरीदने के लिए समझौते किए हैं।

शायद ही अधिकांश पाठकों को यह विदित न होगा कि विश्व के किसी भी देश की अपेक्षा कपास की खेती भारत में सबसे अधिक होती है लेकिन उत्पादन सबसे कम है। तालिका 22 में कतिपय देशों के संबंध में जो आंकड़े दिए गए हैं उनसे इस वक्तव्य की पुष्टि हो जाएगी।

तालिका 22

तीन वर्षों—1974-77 में वार्षिक औसत एकड़ खेती और
कपास का उत्पादन— कतिपय चुने हुए देश

देश	हजारों एकड़ में खेती के एकड़	उत्पादन (पौंड प्रति एकड़)
अमरीका	10759	453
ब्राजील	5166	209
रूस	7209	794
चीन	12033	441
पाकिस्तान	4734	242
सूडान	1088	317
मिस्र	1399	639
भारत	18060	142
विश्व का औसत	77843	362

विश्व बैंक मिशन ने कपड़ा उद्योग की जांच करने के लिए लगभग छः वर्ष पूर्व भारत की यात्रा की थी। उस मिशन ने यह बताया कि भारत पांचवीं पंचवर्षीय

योजना के अंत तक लगभग 10 लाख टन से बढ़ाकर 15 लाख टन कपास के रेशे उत्पन्न कर सकता है। इसके लिए एशिया की कम उत्पादन वाली कपास को छोड़कर अमरीका की अधिक उत्पादन वाली कपास के क्रमबद्ध कार्यक्रम को अपनाना होगा और छोटी कपास से मध्यम कपास और उसके बाद लंबे रेशे वाली कपास की किस्मों को बढ़ाना होगा और अमरीका के स्तर से 1/5 भाग की कपास को अपने देश में लगभग 3/5 भाग की कपास उत्पन्न करना होगा। ऐसा करने से न केवल विदेशी मुद्रा ही बचेगी, जिससे 1978-79 तक लगभग 1 लाख 40 हजार टन विदेशी कपास का आयात रोका जाएगा बल्कि निर्यात के लिए लगभग 3 लाख टन कपास का अधिक उत्पादन होगा।

(ग) जनता की क्रयशक्ति

जबकि कोई भी व्यक्ति बिना खाद्यान्न के जीवित नहीं रह सकता तथापि किसी व्यक्ति अथवा जनता के रहन-सहन का स्तर केवल तभी ऊंचा हो सकता है जब मानवीय आवश्यकताओं की तुष्टि के लिए कृषीतर वस्तुएं और सेवाएं प्रचुर मात्रा में उसे अथवा देश को उपलब्ध कराई जाएं। इन वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन के लिए साधन और साज-सज्जा उसी समय ही उत्पन्न किए जा सकेंगे जबकि इन वस्तुओं और सेवाओं के लिए जनता की मांग हो। लेकिन यह तभी संभव है जब खेती करने वाले लोगों की क्रयशक्ति अधिक हो, भारत की अधिकांश जनता ऐसी ही है (और अन्य कम विकसित देशों में भी ऐसी ही जनसंख्या पायी जाती है) जिसके फलस्वरूप औद्योगिक अथवा कृषीतर सामान और सेवाओं की मांग उत्पन्न होगी। क्रयशक्ति कृषि उत्पादन की वृद्धि से ही मिलेगी। जितना अधिक उत्पादन होगा उतना ही वह उत्पादन उत्पादकों की आवश्यकताओं से अधिक होगा और इसलिए वह उत्पादन बिक्री के लिए उपलब्ध होगा और विक्रेता अथवा उत्पादक के लिए क्रयशक्ति अधिक होगी जिसके फलस्वरूप कृषीतर सामान और सेवाओं की मांग अधिक होगी। इसलिए जितनी और जिस सीमा तक विकसित कृषि की आय होगी और इस प्रकार किसानों की क्रयशक्ति बढ़ेगी—इसका परिणाम यह होगा कि औद्योगिक विकास के लिए खुला बाजार मिल जाएगा। यदि जनता की क्रयशक्ति नहीं बढ़ाई जा सकती अर्थात् किसानों के उपभोग से अधिक खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि नहीं होती तो औद्योगिक वस्तुओं का उत्पादन और सामाजिक सेवाओं का सृजन नहीं हो सकता। यदि अमरीका के सभी कारखानों को भारत की भूमि में लगा दिया जाए तो भी उससे हमारी आर्थिक दशा में कोई अंतर न होगा, यदि हमारा कृषि उत्पादन का स्तर और हमारी क्रयशक्ति उतनी ही रह जाती है जितनी कि अब है। हमारे अपने घरेलू बाजार (जो आज की परिस्थितियों में कृषि द्वारा उत्पन्न अधिक उत्पादन के समानुपाती हैं) के बिना ये कारखाने शीघ्र ही धूलि-धूसरित हो जाएंगे।

1961-71 की अवधि में संगठित औद्योगिक क्षेत्रक में लगाई गई क्षमता के उपभोग की औसत प्रतिशतता की दरें तालिका 23 (पृष्ठ 61) में दिखाई गई हैं।

तालिका 23

क्रम संख्या	उद्योग	अवधि		
		1961-65	1966-68	1969-71
1.	उपभोक्ता वस्तुएं	46.3	48.6	53.0
2.	मध्यवर्ती वस्तुएं	64.3	60.9	61.2
3.	पूंजी की वस्तुएं	57.6	42.3	42.8
4.	समस्त उद्योग	53.6	52.1	54.5

स्रोत : 'इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली', बंबई; 7 दिसम्बर, 1974, पृष्ठ 20-27.

श्रमिक अशांति, विदेशी विनिमय में अवरोध, नियंत्रण की भूलभूलैया, लाइसेंस की कोटा पद्धति, प्रशुल्क अप्रत्यक्ष कर, राजकोषीय प्रोत्साहनों की कमी, जुर्माने आदि कुछेक अन्य सहयोगी कारणों के अलावा औद्योगिक क्षमता के कम उपयोग के लिए उत्तरदायी मुख्य कारक कच्चे माल की अनुपलब्धता और तैयार उत्पादों की अल्प मांग है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जनता की क्रय शक्ति कम है। कम कृषि उत्पादन इन दोनों कारणों के फलस्वरूप ही पाया जाता है।

जो लोग सीधे ही इस काम में लगे हुए हैं, उससे यह विदित होता है कि हमारी काम करने वाली जनता के अधिकांश लोग कृषि में लगे हुए हैं और आज जो खाद्यान्न उत्पन्न किया जाता है उसका अधिकांश भाग वैयक्तिक उपभोग के लिए रखा जाता है और उसका कुछ अनुपात ही बाजार तक पहुंच पाता है। इसका अर्थ यह है कि कुछ ही प्रतिशत लोग अपनी आवश्यकताओं से अधिक खाद्यान्न उत्पन्न करते हैं। और हमारे अधिकांश किसानों की क्रयशक्ति बहुत कम या बिलकुल ही नहीं है जो जीवन-निर्वाह के स्तर से कुछ अधिक स्तर तक नहीं रह पाते।

अतः यदि भारत को आत्मनिर्भर होना है तो किसानों को केवल अपने लिए ही खाद्यान्न उत्पन्न नहीं करना चाहिए बल्कि बाजार के लिए भी खाद्यान्न उत्पन्न करना चाहिए क्योंकि अधिकांश रूप में खाद्यान्न की बाजार में सप्लाई ही कृषीतर क्षेत्रकों के उत्पादनों के लिए प्रभावकारी मांग का साधन हो सकती है और जिससे जनता की क्रयशक्ति उपलब्ध होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि औद्योगिक वस्तुओं और सामाजिक सेवाओं का उत्पादन अथवा उपलब्धता (और इसलिए कृषि के बाहर के क्षेत्रों में श्रमिकों की बढ़ी हुई मांग) उस खाद्यान्न उत्पादन के अनुपात में सीमित है जो बाजार तक पहुंचती है जबकि इसकी तुलना में खाद्यान्न उत्पन्न करने वाले लोग स्वयं ही खाद्यान्न का उपभोग कर लेते हैं।

इसलिए कृषीतर संसाधनों के विकास के लिए आवश्यक स्थिति किसानों के उपभोग से इतर खाद्यान्न उत्पादन की बचत की उपलब्धता में निहित है। जहां कहीं भी उपभोग से अतिरिक्त उत्पादन होता है वहां गांव भी नगर बनने लगते हैं और जहां उपभोग से अधिक उत्पादन नहीं हो पाता अथवा खाद्यान्न सुगमता से उपलब्ध

नहीं हो पाता वहां गांव केवल गांव ही रह जाते हैं और नगरों की संख्या बहुत कम रहती है। रोलैंड आर० रैने ने कहा है, "जहां कहीं भी भूमि की उर्वरता है अथवा कृषि कार्य की दिशा में उन्नति है वहां उत्पादकों की आवश्यकता से अधिक खाद्यान्न और कच्चा माल उत्पन्न हुआ है, जिसके फलस्वरूप नगर और शहर विकसित हुए हैं।"[2] भारत में पंजाब और बिहार के दो राज्यों की तुलना से इस निष्कर्ष की पुष्टि हो जाएगी : पंजाब में अधिक नगर या शहर हैं क्योंकि वहां किसानों की आवश्यकताओं से अधिक खाद्यान्न उत्पन्न किया जाता है जबकि राज्य की तुलना में बिहार में कम या बिल्कुल ही खाद्यान्न उपभोग से अधिक नहीं मिल पाते हैं। यही बात पश्चिमी और पूर्वी उत्तर प्रदेश के लिए सही है।

जनता कृषीतर कार्यों की ओर बढ़े, चाहे वे किसी नगर या गांव में क्यों न हों, तो भी उन्हें खाद्यान्न की आवश्यकता होती है। यदि खाद्यान्न का अभाव है तो ह्रासमान प्रतिफल नियम, जैसा कि पाठक बाद में देखेंगे, उन्हें खेती करने के लिए ही बाध्य कर देते हैं। यदि बाजार में कम या बिल्कुल खाद्यान्न नहीं मिलता तो कोई भी व्यक्ति निर्माण अथवा सेवाओं की खातिर कृषि-कार्य को छोड़ने की बजाय जोखिम नहीं उठाएगा।

इस प्रकार सघन कृषि अर्थव्यवस्था में स्वयं ही दोषपूर्ण स्थिति है। कृषि योग्य भूमि में जनसंख्या की सघनता को कम किया जा सकता है (और रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाया जा सकता है) यदि जनता का अधिकांश प्रतिशत माल बनाने का काम शुरू कर दे। लेकिन वे माल बनाने के काम को नहीं कर सकते क्योंकि यह सत्य है कि जनसंख्या की अधिक सघनता है। जो व्यक्ति ऐसा करते हैं उन्हें बहुत कठिनाई से खाद्यान्न की सप्लाई मिल पाती है और उन्होंने जो माल तैयार किया है उसके खरीदार भी बहुत कम होंगे। इस जटिल समस्या को सुलझाना ही होगा यदि भारत को आर्थिक रूप से बचाना है और यह गांठ तभी काटी जा सकती है जबकि प्रति एकड़ कृषि उत्पादन में बराबर वृद्धि करने के पक्के प्रयत्न किए जाएं। इसके अलावा और कोई सरल मार्ग नहीं है।

यहां तक कि कुटीर उद्योगों अथवा हस्तशिल्पों का भविष्य इस बात पर आधारित है कि हमारे देहाती क्षेत्रों में किसानों की आय में किस दर से वृद्धि होती है। कोई भी किसान एक जोड़ी जूता उस समय तक नहीं खरीद सकता जब तक कि वह अपने उत्पादन में से कुछ हिस्सा बाजार में नहीं बेच देता : खेतों में जूते नहीं उगाए जा सकते।

जो बात उद्योगों के लिए सही है वही बात सेवाओं के लिए भी सही है, और यह तथ्य विशेष रूप से उन सभी लोगों के लिए सही है जो शिक्षा, चिकित्सीय सहायता, बिजली और सार्वजनिक परिवहन को उपलब्ध कराने में लगे हुए हैं। किसानों की क्रय-शक्ति की वृद्धि से सीधे ही तात्कालिक और समानुपातिक मांग बढ़ जाती है और देहाती क्षेत्रों में भी स्कूलों, अस्पतालों, रेल और मोटर सेवाओं, जिनकी आवश्यकता वस्तुओं और

2. लैंड इकनॉमिक्स, हार्पर एंड हार्पर 1947, पृष्ठ 57.

यात्री दोनों के लाने-ले जाने में होती है, की सशक्त मांग होती है। कृषि उत्पादनों से कृषीतर वस्तुओं के विनिमय की वृद्धि से (एक सेवा से दूसरी सेवा के विनिमय से) वाणिज्य में समृद्धि आ जाती है।

अशोक थापर ने 'टाइम्स ऑफ इंडिया', दिनांक 22 मई, 1972 में प्रकाशित एक लेख में व्यक्त किया है :

> " जब किसान अधिक कमाते हैं तो वे अधिक खर्च भी करते हैं। इस प्रक्रिया में वे नए बाजार और नए अवसर उन सैकड़ों लोगों के लिए बना लेते हैं जिनमें लुहार, बढ़ई, राज, बुनकर, कुम्हार, मोची, बर्तन बनाने वाले, धोबी, दर्जी, कपास पींजने वाले, तेली, रंगरेज, वाहक, छोटे-छोटे हलवाई और अनेक असंख्य वर्ग के लोग शामिल हैं। लुधियाना में 12 लाख की जनसंख्या आर्थिक वरदान का सुख उठा रही है क्योंकि उन्हें केवल 45 हजार किसानों से जो समृद्धि उपलब्ध हुई है, उसी का यह परिणाम है।
>
> " अन्यत्र नालगोंडा, जो नागार्जुन सागर बांध का मुख्य क्षेत्र है, में अभी हाल ही के वर्षों में कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई है। वह वृद्धि लुधियाने में प्राप्त स्तरों का 1/3 भाग है।लेकिन वहां भी कृषीतर क्षेत्र लगी में जनता पर अद्भुत प्रभात्र पड़ा है। मृयालगुडा तालुका में नाडामेन्नूर जैसे विशिष्ट 'आर्द्र' गांव को ही उदाहरण के रूप में लें तो यही कहा जाएगा कि 178 मकानों से 1971 में मकानों की संख्या 280 से अधिक हो गई है। इनमें से अधिकांश घर समीपी शुष्क गांव से आने वाले लोगों ने बनाए हैं और उनमें से अधिकांश लोगों की आमदनी पहले से दुगुनी हो गई है। "

इसलिए उद्योगपति, परिवहन कार्यकर्ता, शिक्षाविद्, व्यापारी या वणिक, डॉक्टर, इंजीनियर और इसी प्रकार के अन्य लोग स्वतः ही कृषि उत्पादन के बढ़ने के साथ-साथ अधिक हो जाते हैं और उनके माल तथा सेवाओं की मांग बढ़ जाती है। इसके विपरीत यदि हमारे किसान कारखानों और कृषीतर कामगारों के लिए अधिक अन्न न उपजा सकें तो वर्तमान बाजार या तो छोटे हो जाएंगे या बिल्कुल ही समाप्त हो जाएंगे।

कृषि से केवल उन्हीं लोगों की क्रयशक्ति नहीं बढ़ती जो उसमें सीधे ही लगे हुए हैं बल्कि उन लोगों की भी क्रयशक्ति बढ़ जाती है जो उद्योगों और अन्य सेवाओं में लग गए हैं, तथा अपने जीवन अथवा अनुरक्षण के लिए कृषि पर निर्भर हैं। उदाहरण के लिए, अमरीका में कृषि-कार्यों में लगे हुए मजदूर 1952 में में कुल जनसंख्या का केवल 11.6 प्रतिशत भाग ही था और यह प्रतिशत भी घटकर 1967 में 4.2 रह गया (देखिए, तालिका 26)। फिर भी कृषि ही एक ऐसा साधन था जिसने जन-संख्या के लगभग 50 प्रतिशत लोगों की क्रयशक्ति को बढ़ाया था। यदि इस बात को इस तरीके से देखा जाए तो तालिका 27 में दिखाए गए 3.0 प्रतिशत के आंकड़े से यह विदित होगा कि 1952 में अमरीका में कृषि ने शुद्ध घरेलू वस्तुएं तैयार करने

में कितना योगदान किया है। फिर भी इससे कृषि की भूमिका की सही तस्वीर नहीं उतारी जा सकती। लुईस ब्रोमफील्ड ने कहा है :

"सामान्य रूप से अमरीका और विश्व के नागरिक अमरीका को एक ऐसा राष्ट्र मानते हैं जिसकी शक्ति और धन पूर्णतया उस देश के उद्योग पर ही आधारित है। यह बात इस दृष्टि से भी तार्किक प्रतीत होती है कि अमरीका कई औद्योगिक वस्तुओं का निर्माण कर लेता है। यदि विश्व भर की सभी वस्तुओं को मिलाकर देखा जाए तो अमरीका द्वारा निर्मित वस्तुएं कहीं अधिक हैं। यह बात अधिकांश लोगों को नहीं मालूम है अथवा इस बात को कोई मान्यता भी नहीं दी गई है कि अमरीका में भूमि, भवन, पशुधन, मशीनरी आदि के रूप में भी कृषि पर कहीं अधिक धन लगाया जाता है जो उद्योग में लगाए गए कुल निवेश से अधिक है। इस बात को भी मान्यता नहीं दी जाती कि कृषि किसी न किसी प्रकार से मजदूरी और वेतन की व्यवस्था करती है और इसके फलस्वरूप हमारे देश की जनता के लगभग 50 प्रतिशत लोग औद्योगिक सामान की क्रयशक्ति बढ़ा लेते हैं। यह बात अधिकांशतया छोटे नगरों और गांव के लिए ठीक है जिनकी अर्थव्यवस्था लगभग कृषि संबंधी क्रयशक्ति पर पूर्णतया आधारित है और अधिकांश शहरों यथा ओमाहा, कैनसस सिटी, मिन्यापोलिस, डैसमौरिस, मैमफिस और अन्य नगरों में जहां बीमा कंपनियां, वास्तविक संपत्ति मूल्यांकन और आम बाजार अधिकांशतया पशुधन और कृषि पर आधारित हैं। वहां मांस और खाद्यान्न तैयार करने के उद्योग हैं। कृषि संबंधी मशीन के बड़े-बड़े उद्योग और ऑटोमोबाइल, स्टील, रबड़ उद्योगों और अन्य उद्योगों के बड़े-बड़े क्षेत्र हैं जो अपनी समृद्धि और रोजगार देने के लिए कृषि संबंधी क्रयशक्ति पर आधारित हैं।"[3]

इस प्रकार, कृषि ही एक ऐसा साधन है जो विकसित देशों की संवृद्धि दर को बढ़ाने का सबसे बड़ा साधन है। कृषीतर मजदूरों के लिए खाद्यान्न और उपभोक्ता उद्योगों के लिए कच्चा माल उत्पन्न करने के अलावा कई नए उद्योगों के लिए मांगें पैदा की हैं जिससे उच्च और अधिक अच्छा भुगतान कराने वाले रोजगारों की व्यवस्था हो गई है।

(घ) कृषि से कामगारों की मुक्ति

विकसित कृषि से जनता को वह क्रयशक्ति ही नहीं मिलती जिससे वे निर्मित वस्तुएं और सेवाएं खरीद सकते हैं अपितु इससे मजदूर भी कृषि से मुक्त हो जायेंगे और

3. 'प्रोफाइल ऑफ अमेरिका' नामक पुस्तक के लेखक लुईस ब्रोमफील्ड हैं जो लेखक, किसान और अर्थशास्त्री हैं। इस पुस्तक का सम्पादन एमिली डेवी ने किया है। यह पुस्तक 1954 में न्यूयार्क में प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक के लेख—"एग्रीकल्चर इन द यूनाइटेड स्टेट्स" के पृष्ठ 179-180 देखें।

वे औद्योगिक तथा तृतीयक कार्यों में भी लग सकेंगे। इस प्रकार मजदूरों के मुक्त होने अथवा स्थानान्तरित हुए बिना देश का आर्थिक विकास नहीं हो सकता अथवा देश की गरीबी नहीं मिट सकती। इसका यह कारण बताया जाता है : अधिकांश उत्पादनों को जो प्राथमिक क्षेत्रक अथवा कृषि द्वारा उपलब्ध कराए जाते हैं, उन्हें फिर से उन्हीं मजदूरों से ठीक कराया जाएगा जो उन सेवाओं की सहायता के साथ द्वितीयक क्षेत्रक के कार्यों में लगे हैं और जिन्हें तृतीयक क्षेत्रकों के कार्यों के लिए उपयोग किया जाता है ताकि मानवीय आवश्यकताओं की तुष्टि के लिए उनका उपयोग हो सके।

हम कपड़े का उदाहरण लें : किसी भी देश में चाहे कितनी ही कपास और ऊन क्यों न उपलब्ध हो लेकिन यदि वहां कारीगर या दस्तकार, मशीन चालक, व्यापारी और परिवहनकर्त्ता नहीं हैं तो देशवासियों को अपने लिए कपड़ा तैयार किए बिना कपड़ों से वंचित रहना पड़ेगा। इसी प्रकार घड़ी की बात है क्योंकि घड़ी को साज-सामान में आवश्यक वस्तु मानते हैं। यदि यह मान लें कि किसी देश में अधिक उत्पादन के लिए लोहा और अन्य माल की आवश्यकता होती है और यदि इन पदार्थों को घड़ी में बदलने वाले कुशल और प्रशिक्षित कामगार नहीं हैं तो उस देश के लोग घड़ी से वंचित रह जाएंगे और वे इस सीमा तक गरीब रहेंगे।

इससे यह परिणाम निकलता है कि यदि अधिक लोग प्राथमिक या कृषि क्षेत्रक में लगे रहें तो देश गरीब होगा अथवा वहां के लोगों के रहन-सहन का स्तर नीचा होगा। और दूसरे, यदि देश में अधिक लोग द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्रक की अर्थव्यवस्था में लगे हुए हों अर्थात् वे प्राथमिक अथवा कृषि उत्पादनों के फिर से वस्तुएं तैयार कराने, कृषीतर वस्तुओं के उत्पादन और शिक्षा, लोक स्वास्थ्य, चिकित्सीय देखभाल, विद्युत आदि जैसी सेवाओं की व्यवस्था में लगे हुए हों जिनकी सभ्य जीवन की विविध प्रकार की मांगों को पूरा करने की आवश्यकता होती है, तो ऐसा देश अधिक धनी होगा अथवा वहां की जनसंख्या के रहन-सहन का स्तर ऊंचा होगा।

यह आम समझ और दैनिक निरीक्षण की बात है कि किसी भी उद्योग में लगे हुए श्रमिक अथवा किसी क्षेत्रक की अर्थव्यवस्था बेकार हो जाती है और अन्य उद्योगों अथवा व्यवस्थाओं की ओर उन्मुख हो जाती है जब अन्य कार्यों की अपेक्षा उसमें लगे कामगार का उत्पादन तेजी से बढ़ता है और इस प्रकार मांग की अपेक्षा आपूर्ति अधिक हो जाती है। किसी भी ऐसी स्थिति में जब मांग से अधिक उत्पादन हो जाता है, उस समय मूल्यों, लाभ और मजदूरी से संबंधित वस्तुओं के उत्पादन में तेजी लाने के प्रभाव के फलस्वरूप मजदूरों की पारियों से काम लेना पड़ता है। संसाधनों को अन्य व्यापार और उद्योगों में लगाना होगा ताकि इन अन्य दिशाओं में उत्पादन में वृद्धि की जा सके।

इस प्रकार सापेक्ष रूप से कृषि-आय की कमी के बावजूद आज कृषि-कार्य में जो मजदूर लगे हुए हैं वे केवल उसी समय इस कार्य को छोड़ सकेंगे जब उन्हें बेकार न बना दिया जाए। इसका आशय यह है कि जब प्रति एकड़ कृषि उत्पादन इतना अधिक बढ़ जाता है कि उन मजदूरों को कृषीतर कार्यों में लगाने से कृषि के कुल उत्पादन

में कोई अंतर नहीं आता अर्थात् उन लोगों को अपनी नई परिस्थितियों में भी सरलता या सस्ते ढंग से खाद्यान्न मिल जाता है।

इसके विपरीत यदि खाद्यान्न की कमी है तो ह्रासमान प्रतिफल नियम किसानों को अपनी भूमि छोड़ने अथवा उससे मुक्त होने के लिए अनुमति नहीं देगा। इस नियम के अनुसार समान परिस्थितियों में अधिक लोग समान भूमि क्षेत्र में काम करते हुए अधिक उत्पादन कर लेते हैं और कम लोग प्रति एकड़ कम उत्पादन कर पाते हैं जिससे कुल उत्पादन कम होता है। इस नियम की सत्यता को नीचे दी गई तालिका में भली भांति समझाया गया है :

तालिका 24

ह्रासमान प्रतिफल नियम का उदाहरण

भूमि पर काम करने वाले आदमियों की संख्या	कुल व्यक्तियों द्वारा काम में लाई गई भूमि एकड़ में	सौ एकड़ का कुल उत्पादन जो अनाज के बुशेल के बराबर गिना जाएगा	अनाज के बुशेल का उत्पादन जो आदमी के काम से संबंधित है जिसके लिए अब पहली बार विचार किया गया है	बुशेल में प्रति व्यक्ति उत्पादन का औसत	बुशेल में प्रति एकड़ औसत उत्पादन
1.	100	200	200	200.00	2.00
2.	100	500	300	250.00	5.00
3.	100	900	400	300.00	9.00
4.	100	1250	350	312.50	12.50
5.	100	1540	290	308.00	15.40
6.	100	1780	240	296.67	17.80
7.	100	1980	200	282.85	19.80
8.	100	2150	170	268.75	21.50
9.	100	2300	150	255.55	23.00
10.	100	2440	140	244.00	24.40
11.	100	2575	135	234.09	25.75
12.	100	2705	130	225.42	27.05
13.	100	2830	125	217.69	28.30
14.	100	2950	120	270.71	29.50
15.	100	3067	117	204.47	30.67
16.	100	3181	114	198.81	31.81
17.	100	3292	111	193.65	32.92
18.	100	3400	108	188.88	34.00

स्रोत : डॉ० एल्मेर पैंडेल : पॉपुलेशन ऑन द लूज, न्यूयार्क, 1951, पृष्ठ 37.

डॉ० पैंडेल ने कहा है :

"इस तालिका से यह विदित होता है कि यदि सौ एकड़ में 18 आदमी काम पर लगे हों, यद्यपि वे प्रति व्यक्ति तुलनात्मक रूप से बहुत ही कम उत्पादन कर सकेंगे फिर भी प्रति एकड़ उत्पादन का औसत अपेक्षाकृत अधिक होगा और कुल उत्पादन अधिक होगा। यदि इन 100 एकड़ में लगे हुए 18 आदमियों में से 9 आदमियों को काम से हटा दिया जाए तो शेष 9 आदमियों का औसत उत्पादन अपेक्षाकृत अधिक होगा, लेकिन प्रति एकड़ औसत उत्पादन के हिसाब से अब केवल कुल उत्पादन 68 प्रतिशत ही होगा, यदि 100 एकड़ पर 18 आदमियों के उत्पादन की दृष्टि से देखा जाए। जब हम भूमि की प्रति इकाई में आदमियों की संख्या कम करते हैं तो हमें यह पता लगता है कि शेष किसान की प्रति व्यक्ति उत्पादकता बढ़ जाती है और कुल उत्पादन कम हो जाता है अर्थात् प्रति व्यक्ति उत्पादन अथवा कुल जनसंख्या पर औसत रूप से खाद्यान्न की उपलब्धता कम हो जाती है जिसका स्पष्ट कारण यह है कि जो व्यक्ति गांव छोड़ गए हैं और नगरों में कारखानों के काम में लगे हुए हैं उन लोगों को भी कुल जनसंख्या का एक भाग ही माना जाएगा और उन्हें भी भोजन की आवश्यकता होगी। इसलिए सभी 18 व्यक्तियों के लिए 68 प्रतिशत का उत्पादन पर्याप्त आपूर्ति है तो नगरों में गए लोग उपयोगी सामान बनाएंगे और इस प्रकार व्यवसायों का विशाखन सामान बनाने की दृष्टि से लाभदायक होगा बशर्ते कारखाने के सभी उत्पाद वर्ष-प्रतिवर्ष बेचे जा सकें। लेकिन यदि पहले कुल उत्पादन का 68 प्रतिशत कारखाने के कामगारों और किसानों के लिए पर्याप्त नहीं है तो इस परिवर्तन से और अधिक गरीबी बढ़ेगी अर्थात् अपेक्षाकृत कम खाद्यान्न का उपभोग होगा।"

भारत की विशाल जनसंख्या भूमि संसाधनों की तुलना में अर्थात् कम भूमि-आदमी अनुपात औद्योगिकीकरण अथवा रोजगारों के विशाखन में बाधक है। क्योंकि अधिक लोग प्रस्तुत परिस्थितियों में, कम लोगों की अपेक्षा समान क्षेत्र में खाद्यान्न अधिक पैदा कर सकेंगे और चूंकि व्यक्तियों को सर्वोपरि खाद्यान्न की आवश्यकता है इसलिए वे कृषि भूमि पर काम करना अधिक पसंद करेंगे और कारखानों की ओर नहीं जाएंगे। लोग कृषि-कार्य तभी छोड़ते हैं और वस्तुओं का निर्माण तभी करते हैं जब केवल खाद्यान्न उपलब्ध ही नहीं होता बल्कि वह निर्मित माल की अपेक्षा सस्ता होता है अर्थात् जब एक से कौशल और ऊर्जा के लिए ऐसा लगने लगे कि माल तैयार करने में कृषि की अपेक्षा अधिक आमदनी होती है। इसलिए भारत जैसे अधिक जनसंख्या वाले देश में खाद्यान्न की अपर्याप्तता से खेती के उत्पादन में ह्रासमान प्रतिफल की स्थिति हो जाती है जिसके फलस्वरूप माल तैयार करने का काम रोकना पड़ता है। यदि कृषि से (किसी निश्चित बिंदु से परे) मजदूरों को हटा लिया जाए तो खाद्यान्न की कमी हो जाएगी जिसके फलस्वरूप खाद्यान्न की कीमतें और भी बढ़ जाएंगी। इसके

विपरीत नई भूमि में यदि भूमि की अपेक्षा अधिक व्यक्तियों को लगाया जाए तो खाद्यान्न की आपूर्ति अधिक होगी : कृषि में ह्रासमान प्रतिफल से माल तैयार करने को प्रोत्साहन मिलेगा क्योंकि इनके सस्ते होने से कृषि उत्पादन में ह्रासमान प्रोत्साहन मिलेंगे।

इसलिए यदि भारतवर्ष को आर्थिक रूप से विकसित करना है (जो कृषीतर व्यवसायों में लगे कामगारों की संख्या पर निर्भर है) तो भूमि की कमी को अधिकाधिक पूंजी निवेश से पूरा करना होगा और कृषि संबंधी तकनीक को भी लगातार सुधारना होगा। जिन वर्तमान परिस्थितियों में आज कृषि की जाती है उन्हें इस प्रकार बदलना होगा कि प्रति एकड़ उत्पादन में वृद्धि हो और यथासंभव इष्टतम वृद्धि हो, लेकिन कृषि भूमि पर कम से कम आदमियों को काम पर लगाना पड़े।

इस प्रकार जिन लोगों की कृषि कार्य करने के लिए आवश्यकता नहीं होगी, वे लोग ही बढ़ते हुए विनिर्माण उद्योग में श्रमिक शक्ति प्रदान करेंगे, सेवाओं में लगेंगे और तेजी से बढ़ते हुए सूचना और ज्ञान के रोजगारों में लग सकेंगे।

कृषि में उत्पादकता की लगातार वृद्धि समस्त अर्थव्यवस्था की प्रगति की मूल शर्त है। जिसके बिना खाद्यान्न आधिक्य और कच्चा माल उपलब्ध नहीं हो सकता। इसलिए कृषि क्षेत्र के मजदूरों को अन्य स्थानों पर नहीं लगाया जा सकता।

कृषि उत्पादन में लगातार वृद्धि से कम आकार और अलाभकर जोत-क्षेत्र के मालिक लगातार उद्योग (अथवा अन्य कृषीतर व्यवसायों में) की ओर बढ़ने लगेंगे और इस प्रकार के जोत-क्षेत्र बढ़ना बंद हो जायेंगे और बाद में समाप्त ही हो जायेंगे। यह स्मरण रखना चाहिए कि 1970-71 में अखिल भारतीय कृषि जनगणना के अनुसार किसानों के पास प्रति किसान एक हेक्टेयर से भी कम जोत-क्षेत्र थे। यह उनके ही हित की बात है कि ये किसान तथा अन्य किसान, जिनके जोत-क्षेत्र अलाभकारी हैं, कुटीर और लघु उद्योगों को सहायक अथवा मुख्य व्यवसाय के रूप में स्वीकार कर लें। ऐसे मामलों में शेष किसानों के जोत-क्षेत्रों का क्षेत्रफल बढ़ जाएगा और इस प्रकार उनकी आमदनी भी बढ़ेगी अथवा अन्य शब्दों में यह कह सकते हैं कि उनकी क्रयशक्ति भी बढ़ जाएगी। उनकी क्रयशक्ति बढ़ने से कृषीतर वस्तुओं और सेवाओं की मांग भी बढ़ेगी जिसके फलस्वरूप अधिक कामगारों की जरूरत होगी। ये कामगार कृषि क्षेत्र से ही आएंगे जिसके फलस्वरूप उन किसानों के पास जोत-क्षेत्र के क्षेत्रफल बढ़ जाएंगे जो शेष बच रहते हैं और इसी प्रकार यह क्रम चलता रहेगा।

खाद्यान्न मनुष्य की पहली आवश्यकता है इसीलिए खाद्यान्न को उत्पन्न करने की आवश्यकता सभ्यता के प्रारंभ से ही हुई है और मनुष्य के लिए सर्वप्रथम अथवा मुख्य चिंता और व्यवसाय के रूप में खाद्यान्न उत्पन्न करना आवश्यक रहा है, चाहे उसकी अन्य आवश्यकताओं और रुचियों का कैसा ही विकास क्यों न हुआ हो। एक शताब्दी पूर्व तक खाद्यान्न उत्पादन अथवा कृषि कार्य के लिए कहीं अधिक कामगार काम में लगे रहते थे जबकि अन्य व्यवसायों में ऐसा नहीं था, चाहे उन व्यवसायों की कितनी आवश्यकता क्यों न हो। यह निष्कर्ष आगामी दो तालिकाओं से विदित होता

है। इन तालिकाओं में यह दिखाया गया है कि सन् 1870 से विकसित देशों में अधिक जनसंख्या का स्थानांतरण हुआ है और वे लोग प्रमुख उद्योगों (अथवा कृषि) से स्थानांतरित होकर द्वितीयक और तृतीयक उद्योगों में गए हैं। इसके अलावा प्रति व्यक्ति वास्तविक आय का ऊंचा औसत स्तर जनसंख्या के स्थानांतरण से संबद्ध है । इसलिए यह निष्कर्ष ठीक ही है कि कृषि कार्यों में अब तक जो मजदूर लगे हुए थे उनका उत्पादन कृषीतर कार्यों में लगे हुए मजदूरों से तुलनात्मक रूप से कम ही रहा है। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है वैसे-वैसे प्राथमिक या कृषि क्षेत्रक में लगे हुए मजदूरों की संख्या अन्य दोनों क्षेत्रकों में लगे हुए मजदूरों की तुलना में कम होती जाती है और न केवल देश का कुल उत्पादन कम होता है बल्कि जनसंख्या की वृद्धि के बावजूद प्रति व्यक्ति उत्पादन भी बढ़ता जाता है, जैसा कि दोनों तालिकाओं में दिखाया गया है।

अन्य शब्दों में, उपरोक्त कथन का निष्कर्ष इस प्रकार है। अपेक्षाकृत अधिक विकसित देशों में कृषि पर लगाए गए मजदूरों की संख्या कम है और कृषीतर क्षेत्रक में लगाए नए मजदूरों की संख्या अधिक है जबकि इसकी तुलना में कम विकसित देशों में इससे भिन्न स्थिति है।

इन तालिकाओं में यह भी दिखाया गया है कि ज्यों-ज्यों कृषि कामगारों का प्रतिशत कम होता जाता है दूसरे क्षेत्रक में लगाए गए कामगारों की संख्या, जो प्रारंभ में अपेक्षाकृत अधिक थी, जैसे-जैसे समय बीतता जाता है उन कामगारों की तुलना में कम होती जाती है जो तीसरे क्षेत्रक में लगे हुए हैं। इसका कारण यह है कि कृषि उत्पादनों की तत्संबंधी मांग समय के अन्तराल में गिरती जाती है, तैयार माल की तुलनात्मक मांग पहले बढ़ती है और फिर बाद में उन सेवाओं के पक्ष में गिरती जाती है जो अधिकाधिक रोजगार लिए हैं। कृषि के कामगारों को द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्रक में स्थानांतरित किए जाने के साथ ही साथ और द्वितीयक क्षेत्रक से तृतीयक क्षेत्रक में मजदूरों के स्थानांतरित किए जाने के साथ ही प्रति व्यक्ति आय में शनैः-शनैः वृद्धि हो जाती है, इसलिए राष्ट्रीय आय भी बढ़ जाती है।

तालिका 25

1870-1965 की अवधि के दौरान कृषि कामगारों, जनसंख्या, राष्ट्रीय उत्पादन और प्रति व्यक्ति उत्पादन में परिवर्तन की प्रतिशतता

देश	लगभग 1870 और 1965 में कृषि के कार्य में लगी हुई जनसंख्या का अनुपात (कृषि-कार्य में लगी हुई महिलाओं को छोड़कर)		1953-1965 की अवधि में कृषि क्षेत्र में रोजगार और कुल कृषि मेंपरिवर्तन की प्रतिशतता			1913=100			
	लगभग 1870	1965	योग	कृषि		1870	1938	1953	1965
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
आस्ट्रेलिया					जनसंख्या	33.5	143.2	183.0	235.8
					कुल उत्पादन	23.2	140.7	224.3	377.8
					प्रति व्यक्ति उत्पादन	69.3	98.3	122.6	160.2
बेल्जियम	25 (1880)	4.5	8.1	—37.4	जनसंख्या	66.5	109.2	114.5	123.6
					कुल उत्पादन	31.8	122.0	159.1	249.7
					प्रति व्यक्ति उत्पादन	47.8	111.7	139.0	202.0
कनाडा	505a (1870)	9.0	30.6	—28.2	जनसंख्या	47.2	144.3	186.1	245.0
					कुल उत्पादन	20.1	143.7	336.6	546.6
					प्रति व्यक्ति उत्पादन	42.6	199.6	180.9	233.1

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
डेनमार्क	54 (1870))	12.7	14.8	—27.8	जनसंख्या	63.3	125.9	145.7	158.8
					कुल जनसंख्या	25.8	160.7	223.5	370.2
					प्रति व्यक्ति उत्पादन	40.8	127.6	153.4	233.1
फ्रांस	43 (1866)	12.7	4.5	—34.6	जनसंख्या	92.7	100.6	102.2	117.3
					कुल उत्पादन	51.1	124.0	167.7	301.7
					प्रति व्यक्ति उत्पादन	55.1	123.3	164.1	257.2
जर्मनी	36 (1882)	6.6 b	19.7	—34.7	जनसंख्या	61.0	113.4	140.3	162.4
					कुल उत्पादन	30.4	149.9	205.2	422.4
					प्रति व्यक्ति उत्पादन	49.8	132.2	146.3	260.1
इटली	51 (1871)	19.0	12.5	—29.2	जनसंख्या	75.4	118.6	131.2	142.2
					कुल उत्पादन	54.8	153.8	197.5	367.0
					प्रति व्यक्ति उत्पादन	72.7	129.7	150.5	258.1
जापान	76 (1872)	14.0	20.6	—27.4	जनसंख्या	71.3D	139.3	168.9	190.2
					कुल उत्पादन	40.8D	267.6	259.7	761.7
					प्रति व्यक्ति उत्पादन	57.2D	192.1	153.8	400.5
नीदरलैंड	29 (1899)	8.5	14.4	—17.9	जनसंख्या	58.4	141.3	170.9	200.3
					कुल उत्पादन	45.0	170.3	247.7	443.7
					प्रति व्यक्ति उत्पादन	77.1	120.5	144.9	221.5

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
नार्वे	49 (1875)	14.3	4.9	—25.4	जनसंख्या	70.9	120.0	137.5	152.2
					कुल उत्पादन	40.9 aa	202.8	295.4	481.4
					प्रति व्यक्ति उत्पादन	56.4 bb	169.0	214.8	316.3
स्वीडन	56 (1870)	9.1			जनसंख्या	74.1	112.0	127.5	137.6
					कुल उत्पादन	28.5	154.6	238.5	398.4
					प्रति व्यक्ति उत्पादन	38.5	138.0	187.1	289.5
स्विटजरलैंड	33 (1880)	10.3 c			जनसंख्या	68.5	108.5	126.2	153.8
					कुल उत्पादन	E	162.6	240.3	419.2
					प्रति व्यक्ति उत्पादन	n.a.	149.9	190.4	272.6
इंगलैंड	19 (1871)	3.0	9.2	—24.9	जनसंख्या	58.5	111.2	119.1	127.8
					कुल उत्पादन	43.5	132.5	168.8	244.7
					प्रति व्यक्ति उत्पादन	63.5	119.2	141.7	191.5
अमरीका	51 ((1870)	4.8	12.3	—39.3	जनसंख्या	41.0	133.7	164.1	199.4
					कुल उत्पादन	16.9	163.3	345.0	511.6
					प्रति व्यक्ति उत्पादन	40.6 bb	122.1	210.2	256.6
रूस	77 a (1897)	17.2	29.7	- 2.8	जनसंख्या	52.4	122.5	123.0	149.8
					कुल उत्पादन	34.9	197.8	325.2	660.1
					प्रति व्यक्ति उत्पादन	66.6	161.5	264.4	440.7

a=महिलाएं शामिल करके b= संघीय लोकतंत्र और पश्चिमी बर्लिन; c=1960; d=1879; d=1871; e=इससे पूर्व उपलब्ध आंकड़े 1890 (1913 का 58.0) उपलब्ध है; bb 1871 से समायोजित।

स्रोत : एंगस मैडीसन : 'द इकनॉमिक ग्रोथ इन जापान एण्ड द यू० एस० एस० आर०', जार्ज एलिन एण्ड अनविन, लंदन 1969, पृष्ठ 24.

टिप्पणी : इस तालिका में और इसके बाद आगे वाली तालिकाओं में भी कृषि-कार्य में लगी हुई महिलाएं (वनरोपण और मत्स्य पालन के कार्यों से संबंधित महिलाओं को शामिल करते हुए) कृषि प्राथमिक क्षेत्रक के समरूप है, और वे महिलाएं इसलिए छोड़ दी गई हैं कि विभिन्न देशों में खेती करने वाले परिवारों की महिला सदस्यों को जनसंख्या-सारणियों में अलग-अलग करके बताया गया है । अतः इन आंकड़ों के विश्लेषण और तुलना में कठिनाई उत्पन्न होती है ।

ऐडम्स एण्ड ऐडम्स : मैन वर्सिस सिस्टम्स, द फ्री प्रेस, न्यूयार्क, 1971, परिशिष्ट, तालिका 1 के अनुसार 1965 में रूस में ग्रामीण जनसंख्या से 10,69,00,000 लोग थे जो कुल जनसंख्या के 45 प्रतिशत थे । कुल में से 9,00,00,000 (38 प्रतिशत) कृषि-कार्य पर निर्भर थे ।

तालिका 26

चुने हुए देशों की श्रमजीवी जनसंख्या के वितरण की प्रतिशतता में विभिन्नता और प्रति व्यक्ति आय

क्रम संख्या	देश	वर्ष	श्रमजीवी जनसंख्या के वितरण की प्रतिशतता			जनसंख्या के प्रति व्यक्ति आय	
			प्राथमिक	द्वितीयक	तृतीयक	वर्ष	डालर
1	2	3	4	5	6	7	8
1.	अमरीका	1870	50.8	25.1	24.3	1869-78	232
		1880	50.5	25.0	24.3	1874-83	292
		1890	43.1	28.3	28.4	1884-93	355
		1900	38.0	30.6	31.3	1894-1903	411
		1910	32.0	32.1	35.9	1904-13	508
		1920	27.6	34.7	37.7	1920	565
		1930	22.6	31.8	45.4	1930	648
		1940	18.3	33.1	48.6	1940	789
		1950	11.6	37.4	50.8	1950	1064
		1960	6.1	36.9	57.0	1960	2277
		1965	5.1	34.8	60.1	1965	2921
		1967	4.2	35.1	60.7	1967	3310
						1973	5554
2.	आस्ट्रेलिया	1871	43.9	26.5	29.6		
		1881	38.6	29.8	31.6		
		1891	26.5	36.3	37.2	1891	405
		1901	25.4	34.3	40.3	1901-03	355
		1911	24.8	34.3	41.2	1913-14	414

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6	7	8
		1921	23.0	34.4	42.6	1921-22	350
		1933	24.7	28.3	47.0	1933-34	441
		1939	20.5	34.4	45.1	1938-39	524
		1947	16.8	37.6	45.4	1947-48	664
		1954	12.7	41.0	46.3	1952-53	675
		1961	10.2	40.5	49.3		
		1966	8.1	40.7	51.2	1966	1747
						1971	3426
3. ग्रेट ब्रिटेन (सभी जगह आयरलैंड को सम्मिलित नहीं किया गया है)		1871	15.0	49.8	35.5	1871	330
		1881	12.3	50.3	37.4	1881	362
		1891	10.4	49.4	40.2	1891	453
		1901	8.7	46.8	43.5	1901	490
		1911	7.8	46.7	45.5	1911	519
		1921	6.7	50.1	47.4	1931	521
		1951	4.5	49.7	46.1	1951	597
		1966	2.7	47.1	50.2	1966	1544
						1971	2503
4. बेल्जियम		1880	24.5	38.7	36.8		
		1890	18.2	40.5	39.6		
						1895	219
		1900	16.7	43.9	39.4		
		1910	17.6	50.1	32.3	1913	314
		1920	16.0	49.5	34.5	1920	176
		1930	13.6	49.1	37.3	1930	324
		1947	10.9	51.1	38.0	1947	481
		1961	6.3	47.7	46.0		
		1964	4.7	46.2	49.1		
		1967	4.3	44.9	50.8		
						1967	1593
						1971	3346
4. कनाडा		1901	43.6	27.8	28.9	1900	408
		1911	40.0	26.6	33.4	1910	552
		1931	32.6	28.2	39.2	1931	432

(क्रमशः)

1	2	3	5	5	6	7	8
		1941	29.2	31.8	39.0	1941	678
		1951	18.7	36.0	45.1	1951	834
		1961	11.3	34.5	54.2		
		1966	7.6	34.2	58.2	1966	1990
		1968	8.2	32.5	59.3	1968	2247
						1973	4151
6.	न्यूजीलैंड	1881	31.9	37.9	30.2		
		1886	32.1	37.5	30.4		
		1891	30.1	35.6	34.3		
		1896	30.5	35.1	34.4		
		1901	29.6	33.1	37.3	1901	334
		1911	27.2	31.3	41.5		
		1921	27.3	27.1	45.6	1925-26	590
		1936	25.2	28.6	45.0	1936-47	745
		1945	20.1	32.2	47.7	1945-46	739
		1956	15.3	36.4	48.3		
		1961	13.5	37.2	49.3		
		1966	11.9	38.6	49.5	1966	1750
						1973	3711
7.	फ्रांस	1866	43.0	38.0	19.0	1870	143
		1901	33.1	42.0	24.9	1900	231
		1911	30.1	39.2	30.8	1913	266
		1921	28.5	36.6	34.9	1921	348
		1926	26.7	39.4	33.8	1926	391
		1931	24.5	41.0	34.5	1931	363
		1936	24.7	36.1	39.2	1936	361
		1946	25.6	36.4	39.8	1947	442
		1951	20.2	41.4	38.4	1951	505
		1954	19.8	40.0	40.2	1954	812
		1962	14.4	40.8	44.8	1971	3403
8.	नीदरलैंड	1899	28.5	35.9	35.6	1900	329
		1909	24.7	37.1	37.5	1909	372

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6	7	8
		1920	21.1	39.6	39.3	1920	366
		1930	18.0	40.6	41.4	1930	439
		1947	16.8	37.4	44.8	1947	434
		1960	9.9	42.8	47.3		
9.	जर्मनी (फेडरल रिपब्लिक)	1882	35.5	37.4	18.4	1883	206
		1907	23.8	50.6	18.3	1907	298
		1925	17.8	48.9	33.3	1925	274
		1933	16.9	47.4	35.7	1933	295
		1950	11.8	49.0	39.1	1950	360
		1961	6.5	52.6	40.9		
		1965	5.4	51.6	43.0	1965	1463
		1967	4.9	50.8	44.3	1967	1519
						1973	5040
10.	डेनमार्क	1901	42.4	27.6	30.0	1903	481
		1911	37.3	27.6	35.0	1911	428
		1921	31.7	28.8	39.5	1921	493
		1930	30.6	30.1	39.3	1930	535
		1940	23.6	32.5	28.0	1940	545
		1952	19.0	38.4	42.5	1951	618
		1960	16.4	37.8	45.8	1960	1049
						1973	5004
11.	नार्वे	1875	48.8	24.1	27.1		
		1890	45.2	26.7	28.1	1891	145
		1900	37.1	31.6	31.4		
		1910	37.5	29.5	33.0	1913	229
		1920	34.1	31.4	34.5	1920	380
		1930	34.0	28.1	37.8	1930	463
		1960	18.8	37.0	44.2	1960	964
						1973	4115
12.	जापान	1872	76.4	7.5	15.9		
		1887	67.0	13.3	18.9		
		1912	48.0	24.3	27.0	1913	146
		1920	41.3	28.5	30.2	1920	97

(क्रमश:)

1	2	3	4	5	6	7	8
		1930	36.2	27.0	36.7	1930	189
		1940	28.6	34.8	36.6	1940	249
		1950	32.6	34.6	21.8	1950	194
		1955	25.8	29.6	44.6	1952	220
		1960	18.9	35.8	45.3	1960	343
		1965	13.7	37.7	48.6	1965	721
						1973	3292
13.	इटली	1871	51.0	32.3	4.3		
		1881	45.8	36.2	4.6		
		1901	48.9	29.9	8.2	1901	132
		1911	45.4	32.0	15.0	1911	154
		1921	46.5	29.0	16.3	1921	146
		1931	41.7	32.6	16.5	1931	160
		1636	40.3	32.5	27.2	1936	168
		1951	34.9	40.2	25.2	1951	250
		1961	23.2	40.0	32.8		
		1965	18.9	44.5	36.6	1965	920
		1967	17.7	44.2	38.1	1967	1075
						1973	2298
14.	स्विट्जरलैंड	1880	32.7	44.8	19.8	1890	230
		1900	27.0	47.5	21.0	1899	245
		1910	22.4	48.6	23.6	1913	293
		1920	21.7	46.8	25.3	1924	346
		1930	19.2	46.2	34.6	1930	431
		1941	19.9	44.9	35.2	1941	414
		1950	15.4	47.7	36.9	1950	638
		1960	10.4	51.0	38.6		
						1970	2963
15.	स्वीडन	1900	42.8	23.8	33.5	1900	200
		1910	40.8	30.4	28.8	1910	252
		1920	34.9	35.0	30.1	1920	285
		1930	30.5	35.3	34.2	1930	358
		1940	27.1	37.1	35.7	1938-39	446

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6	7	8
		1950	19.3	41.7	39.0	1950	625
		1960	12.8	45.8	41.4	1960	
		1965	9.4	44.4	46.2	1965	
						1973	5596
16.	रूस	1926	81.0	5.6	13.4	1928	168
		1939	57.8	17.2	25.0	1938	207
						1973	2030 A

स्रोत : 1952 तक के आंकड़ों के लिए, 'दी कन्डीशन्स आफ इकनॉमिक प्रोग्रेस' (संस्करण 1957) कोलिन क्लार्क की पुस्तक का अध्याय 2 और 3 और 1952 के बाद अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन—इयर बुक्स आफ लेबर इस्टैटिस्टिक्स 1961, 1966 और 1968 तथा संयुक्त राष्ट्र स्टैटिस्टिकल इयर बुक्स, 1962 और 1974। 'A' पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद के आंकड़े 'वल्र्ड बैंक एटलस', 1975 से लिए गए हैं।

टिप्पणियां :

1. 1952 तक प्रति व्यक्ति आय अंतर्राष्ट्रीय यूनिट के रूप में दी गई है। यह अंतर्राष्ट्रीय यूनिट उन वस्तुओं की मात्रा के बराबर है जिनका विनिमय दशाब्दी 1925-34 के औसत के आधार पर अमरीकी डालर में किया जाता था। 1952 के बाद इसको डालर के वर्तमान मूल्य के रूप में दिया गया है।
2. 'खनन' को द्वितीयक क्षेत्रक (अर्थात् निर्माण, विनिर्माण, बिजली और गैस के साथ ही साथ) में शामिल किया गया है। इसमें 1871-1881 के लिए आस्ट्रेलिया को शामिल नहीं किया है जहां इसे प्राथमिक क्षेत्रक में शामिल किया गया है।
3. 1981 से इटली के लिए द्वितीयक क्षेत्रक में परिवहन और यातायात भी शामिल किए गए हैं।
4. 1940 की तुलना में 1950 में जापान के लिए प्राथमिक क्षेत्रक में रोजगार के उच्चतर आंकड़े असामान्य नहीं हैं। लेकिन ये आंकड़े द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जापान की अर्थ-व्यवस्था में हुई क्षति को प्रदर्शित करते हैं। जिसे अब बहुत काफी हद तक पूरा कर लिया गया है।

ऊपर दी गई तालिका में यह दिखाया गया है कि अमरीका में सबसे अधिक आय रही, अर्थात् 1967 में 3,310 डालर थी। विश्व बैंक एटलस 1979 के अनुसार अब अमरीका प्रति व्यक्ति आय के अनुसार विश्व के सबसे धनी औद्योगीकृत राष्ट्रों में से नहीं है। सन् 1977 में स्विट्जरलैंड (11,080 डालर), और स्वीडन (9,340 डालर) और डेनमार्क (9,180 डालर) कहीं आगे आ गए हैं और अमरीका (8,750 डालर) को पांचवें स्थान पर धकेल दिया है।

कुछ अन्य देशों को इन तालिकाओं में नहीं दिखाया गया है जहां विनिर्माण उद्योगों और सेवाओं में लगे कामगारों का अनुपात कम है, लेकिन उनकी प्रति व्यक्ति आय सापेक्षतया अधिक है। इसका कारण प्रचुर मात्रा की प्राकृतिक संपदा की स्थायी निधि

(यथा—तेल या खनिज निक्षेप) है। उन्होंने प्रमुख वस्तुओं के उत्पादन और तदनुसार निर्यात के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में काफी लाभ उठाया है जिसके फलस्वरूप उनकी प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में बढ़ोतरी हुई है। गत कुछ वर्षों के इतिहास से यह विदित होता है कि पैट्रोल निर्यात करने वाले देश, यथा—कुवैत (12,690 डालर), सऊदी अरब (7,230 डालर) और लीबिया (6,520 डालर) इसके स्पष्टतम उदाहरण हैं।

फिर भी इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि कुवैत, सऊदी अरब और लीबिया को विकसित देशों के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। विकसित देश की परिभाषा इस बात पर आधारित है कि उस देश की आर्थिक और सामाजिक प्रणालियों की उपलब्धियां क्या हैं, न कि इस बात पर आधारित है कि उस देश में प्राकृतिक संसाधनों की सीमा अथवा मात्रा क्या है। प्रति व्यक्ति उत्पाद निश्चित रूप से मुख्य मूल्यांकन है, लेकिन साइमन कुज़नैत्स के मतानुसार उत्पादन इतना अधिक हो जिससे सफल प्रयत्न की ओर संकेत मिलें और यह ज्ञात हो कि सापेक्षतया आधुनिक सामग्री और सामाजिक प्रौद्योगिकी की आर्थिक क्षमता का सफलतापूर्वक उपयोग किया गया है।

यहां यह कहना भी असंगत न होगा कि जापान को छोड़कर आज 15 से 18 विकसित देश यूरोप में ही हैं अथवा समुद्र पार यूरोप की ही शाखाएं हैं।

जबकि उपर्युक्त तीन तालिकाओं में अर्थव्यवस्था के प्रमुख और अन्य क्षेत्रकों में विकसित देशों के श्रमजीवी कामगारों के वितरण की प्रतिशतता दिखायी गयी है, आगामी तालिका में इन तीनों क्षेत्रकों में राष्ट्रीय आय अथवा सकल घरेलू उत्पाद के वितरण की प्रतिशतता दिखायी गयी है।

तालिका 27

चुने हुए देशों के सकल घरेलू उत्पाद के वितरण की प्रतिशतता और प्रति व्यक्ति आय

क्रमांक	देश	वर्ष	उपकरण लागत के हिसाब से सकल घरेलू उत्पा[द]	सकल घरेलू उत्पाद के वितरण की प्रतिशतता +81.6 486.0	नीयक	तृतीयक	सकल घरेलू उत्पाद में प्राथमिक क्षेत्रक का भाग = स्तंभ 4 × स्तंभ 5 / 100	अमरीकी डालरों में प्रति व्यक्ति आय
1	2	3	4	5	6	7	8	9
1.	अमरीका	1952	349.4	6	39	54		1851
		1954	368.5	5	39	55		1842
		1958	452.9	5	37	59		2115

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6	7	8	9
		1960	509.0	4	37	58		2277
		1963	596.3	4	37	59		2562
		1965	692.1	3	38	59		2921
		1966	758.6	3	38	59		3175
		1967	803.3	3	36	60		3310
		1968	876.0	3	37	61		3578
2.	आस्ट्रेलिया	1958	11137.0	14	41	44		1126
	(दस लाख	1960	13062.0	13	42	45		1245
	आस्ट्रेलियाई	1963	16162.0	14	41	45		1472
	डालर)	1965	18538.0	10	43	47		1622
		1966	20384.0	11	41	47		1747
		1967	21612.0	9	42	49		1807
3.	इंगलैंड	1952	13757.0	6	45	49		703
	(दस लाख	1954	15678.0	5	58	48		788
	पौंड)	1958	20115.0	4	47	47		1013
		1960	22563.0	4	48	49		1097
		1963	26826.0	4	46	51		1303
		1965	30895.0	3	48	52		1478
		1966	32590.0	3	47	51		1544
		1967	34386.0	3	46	51		1586
		1968	36267.0	3	47	52		1451
4.	बेल्जियम	1954	391.7	8	42	52		818
	(एक अरब	1958	466.4	7	40	52		936
	फ्रैंक)	1960	506.9	7	41	53		1023
		1963	615.2	7	41	51		1191
		1965	749.9	6	42	53		1431
		1966	7[illegible]	5	42	54		1513
		1967	8[illegible]	[illegible]	41	54		1593
		1968	98[illegible]	5	42	55		1696
5.	कनाडा	1952	21344.0	13	40	47		1323
	(दस लाख	1954	22213.0	9	41	50		1283
	कनाडा	1958	29354.0	7	41	52		1503
	डालर)	1960	32336.0	7	39	54		1534
		1963	38697.0	7	38	54		1602

1	2	3	4	5	6	7	8	9
		1965	45793.0	6	40	54		1830
		1966	50741.0	7	39	54		1990
		1967	54166.0	6	38	56		2085
6.	फ्रांस (एक अरब फ्रैंक)	1952	144.8	13	48	41		738
		1954	160.1	12	46	43		812
		1958	244.7	10	48	43		1013
		1960	301.4	9	48	45		1013
		1963	411.4	8	47	46		1322
		1965	489.0	7	49	47		1528
		1966	531.0	7	49	47		1642
		1967	571.4	4	48	48		1752
		1968	624.3	7	48	49		1927
7.	नीदरलैंड (दस लाख नीदरलैंड डालर)	1958		11	41	48		695
		1960		11	43	47		
		1963		9	42	50		996
		1965		8	42	49		1280
		1966		7	42	50		1366
		1967		7	42	51		1481
		1968		7	42	51		1604
8.	जर्मनी (एक अरब डी० मार्क)	1952	136.5	10	51	40		508
		1954	158.2	9	52	39		580
		1958	231.2	7	52	41		829
		1960	296.6	6	53	40		1035
		1963	378.0	5	53	42		1254
		1965	453.8	4	53	43		1463
		1966	481.6	4	51	45		1528
		1967	486.0	4	50	46		1519
		1968	530.7	4	51	45		1682
9.	डेनमार्क (दस लाख क्रोनर	1952	24985.0	21	35	43		690
		1954	27618.0	19	37	45		751
		1958	33981.0	16	37	47		888
		1960	48523.0	14	39	49		1049
		1963	53476.0	12	39	47		1335

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6	7	8	9
		1965	68291.0	11	40	49		1683
		1966	75003.0	10	40	50		1814
		1967	82604.0	9	40	51		1955
		1968	89844.0	9	39	51		1960
10.	नार्वे (दस लाख	1952	18714.0	15	37	48		684
	क्रोनर)	1954	20598.0	14	39	46		736
		1958	26039.0	12	37	51		871
		1960	29402.0	11	38	51		964
		1963	37364.0	8	38	54		1205
		1965	45665.0	9	38	54		1453
		1966	49508.0	8	39	53		1559
		1967	54404.0	7	38	54		1697
		1968	58518.0	7	37	56		1808
11.	जापान (एक	1952	4966.6	23	31	46		161
	अरब येन)	1954	6534.1	22	30	47		188
		1958	9558.2	18	33	50		290
		1960	12832.6	15	36	48		343
		1963	19963.9	12	37	51		576
		1965	25528.3	11	36	53		721
		1966	29279.9	11	36	53		820
		1967	33611.6	11	37	52		959
		1968	40966.9	10	39	51		1122
12.	इटली (एक	1952	10413.0	22	36	43		286
	अरब लिरे)	1954	12118.0	21	36	43		332
		1958	16781.0	18	36	45		478
		1960	19286.0	15	38	47		509
		1963	27679.0	14	39	48		763
		1965	32593.0	13	38	49		920
		1966	35333.0	13	38	50		992
		1967	38540.0	13	38	49		1075
		1968	41437.0	11	39	50		1149
13.	आस्ट्रिया (एक	1952	72.4	16	51	33		389
	अरब शिलिंग)	1954	82.6	17	50	33		402

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6	7	8	9
		1958	120.2	14	50	36		588
		1960	140.9	12	53	35		681
		1963	176.9	10	51	39		831
		1965	208.9	9	52	38		967
		1966	225.2	9	53	39		1041
		1967	240.7	9	50	41		1104
14.	इजराइल (दस लाख इजराइली पौंड)	1952	926.0	10	30	52		756
		1954	1472.0	12	32	55		461
		1958	2859.0	13	32	54		610
		1960	3652.0	11	32	54		915
		1963	6118.0	11	35	55		836
		1965	8570.0	8	34	59		1101
		1966	9415.0	8	32	62		1168
		1967	9730.0	9	29	63		1158
		1968	11398.0	8	33	60		1147

स्रोत : स्तंभ 8 के लिए, यू० एन०, स्टैटिस्टिकल इयर बुक, 1969; शेष के लिए, इयर बुक आफ नेशनल एकाउन्ट्स स्टैटिस्टिक्स 1969, खंड II.
अंतर्राष्ट्रीय तालिका 3 : उपकरण लागत के हिसाब से सकल घरेलू उत्पाद का औद्योगिक मूल।

टिप्पणी : प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक की संरचना इस प्रकार दिखाई गई है :

(अ) प्राथमिक : कृषि
(ब) द्वितीयक : (क) सभी औद्योगिक कार्यकलाप,
(ख) निर्माण
(स) तृतीयक : (क) परिवहन और संचार
(ख) थोक और फुटकर व्यापार
(ग) अन्य
(द) जापान : बिजली, गैस, जल और स्वच्छता सेवाएं तृतीयक में शामिल हैं।
(य) जर्मनी (पश्चिमी) बर्लिन में सार और पश्चिमी बर्लिन शामिल हैं।

यह विदित होगा कि कृषि मजदूरों को कृषीतर व्यवसायों में धीरे-धीरे अंतरण करने से प्रति व्यक्ति आय (और इसलिए राष्ट्रीय आय) में वृद्धि हुई है, चाहे जनसंख्या में वृद्धि ही क्यों न हुई हो। इसका परिणाम यह हुआ है कि कृषि उत्पादन में धीरे-धीरे कमी हुई है और इसकी तुलना में कृषीतर क्षेत्रकों में धीरे-धीरे वृद्धि हुई है और राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि हुई है।

आगे यह भी देखा जाएगा कि राष्ट्रीय उत्पादन में कृषि का सापेक्ष अंशदान कम होता गया है, चाहे यह सत्य ही क्यों न हो कि कुल मिलाकर कृषि उत्पादन, साथ ही साथ, अधिक होता गया है।

इससे पहले की दो तालिकाओं में जिन वर्षों के आंकड़े दिखाए गए वे सामान्यतया साथ-साथ नहीं आते। कनाडा, डेनमार्क, नीदरलैंड और स्वीडन (जिनके संबंध में आंकड़े वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ से ही उपलब्ध थे) के अतिरिक्त पहली तालिका में (रूस को छोड़कर) दिए गए आंकड़े गत शताब्दी के सातवें दशक से दिखाए गए हैं जबकि दूसरी तालिका में दिखाए गए सभी आंकड़े 1952 से हैं। फिर भी, निष्कर्षों पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसका कारण यह है कि .952 के बाद के सभी वर्षों में, जैसा कि पहली तालिका में दिखाया गया है, आंकड़ों की प्रवृत्ति वही है जैसी कि 1952 से पहले के वर्षों में थी और उसके बाद 1952 के बाद के वर्षों में रही। यद्यपि यह स्थिति दूसरी तालिका में एक जैसी नहीं है। इसका संबंध उस अवधि से है जिसका उल्लेख बाद की तालिका अर्थात् लगभग 1952-67 से किया गया है।

अब तक जो कहा गया है और जैसा कि ऊपर आंकड़े दिए गए हैं उससे यह अपरिवर्तनीय निष्कर्ष निकलता है कि वे सभी देश जो आज समृद्ध अथवा आर्थिक रूप से आगे हैं, वहां गत कई वर्षों में कृषि क्षेत्रों से कृषीतर रोजगारों में कामगारों के अंतरण में वृद्धि हुई है। इस प्रकार कृषि कामगारों की प्रतिशतता शनैः-शनैः कम हुई है और अब भी कम होती जा रही है।

इससे आगे, जैसे-जैसे कृषि मजदूरों की प्रतिशतता कम होती जाती है (इसलिए उन मजदूरों की प्रतिशतता बढ़ती जाती है जो औद्योगिक और सेवा क्षेत्रकों में लगे हुए हैं) वैसे-वैसे उत्पादन के बढ़ने के बावजूद राष्ट्रीय कल्याण में कृषि का समानुपातिक योगदान धीरे-धीरे कम होता जाता है और अर्थव्यवस्था समृद्ध होती है। अर्थात्, राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय भी अथवा रहन-सहन का स्तर (जनसंख्या की वृद्धि होने के बावजूद) बढ़ता जाता है।

यद्यपि यह बिलकुल आवश्यक नहीं है, फिर भी हमने पाठकों की सूचना के लिए ही आगामी तालिका में नवीनतम आंकड़े दिए हैं। जर्मनी (फेडरल रिपब्लिक) को छोड़कर, जहां कृषि कामगारों की जनसंख्या बढ़ गई है, पिछले दो अनुच्छेदों में जो निष्कर्ष निकाला गया है, उसकी पुष्टि होती है।

तालिका 28

आर्थिक कार्य के प्रकार के अनुसार सकल घरेलू उत्पादन और रोजगार (प्रतिशत वितरण)

क्रम संख्या	देश	वर्ष	कृषि		माध्यमिक		तीसरा		1978 के लिए अमरीकी प्रति व्यक्ति आय डालर में
			रोजगार	सकल घरेलू उत्पाद	रोजगार	सकल घरेलू उत्पाद	रोजगार	सकल घरेलू उत्पाद	
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
1.	आस्ट्रेलिया	1976	6.7	5	28.8	32	53.4	51	7467
2.	आस्ट्रिया	1978	10.8	5	41.0	42	47.8	45	6739
3.	बेल्जियम	1978	2.9	2	33.3	37	56.3	56	9025
4.	कनाडा	1978	5.5	4	26.5	31	60.5	54	7512
5.	डेनमार्क	1973	8.3	6	30.5	30	51.1	51	9869
6.	फिनलैंड	1976	15.0	9	35.7	36	48.8	47	6090
7.	फ्रांस	1977	8.6	5	35.2	37	50.9	49	7918
8.	जर्मनी (फेडरल रिपब्लिक)	1978	6.2	3	45.0	49	49.5	48	9278
9.	हंगरी	1978	21.6	15	42.8	59	17.5	15	—
10.	इजराइल	1978	5.9	6	30.8	35	60.3	59	3332

(क्रमशः)

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
11.	इटली	1977	14.2	8	35.1	43	43.5	47	4118
12.	जापान	1978	11.4	5	34.2	40	52.0	53	7153
13.	नीदरलैंड	1976	0.7	5	20.7	36	59.9	51	8509
14.	न्यूज़ीलैंड	1977	10.1	10	34.5	31	52.7	58	5846
15.	नार्वे	1978	8.5	5	31.5	36	58.4	54	7949
16.	स्वीडन	1978	6.0	4	32.4	36	59.4	51	9274
17.	इंग्लैंड	1978	2.5	2	37.4	36	53.4	49	4955
18.	अमरीका	1978	3.6	3	30.5	34	62.9	61	8612
19.	रूस	1978	—	17	—	62	—	20	—

स्रोत : 'इयर बुक आफ नेशनल एकाउन्ट्स इस्टैटिस्टिक्स', 1979, खंड I, और II. राष्ट्र संघ द्वारा प्रकाशित और 'अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन इयर बुक' 1979, जेनेवा।

टिप्पणियां :

1. सकल घरेलू उत्पाद के लिए 100 नहीं होता क्योंकि कई मामलों में आयात कर रिपोर्ट किए गए औद्योगिक समूह में शामिल नहीं किए जाते हैं।
2. रोजगार के आंकड़े 100 तक समाप्त नहीं हो सकते क्योंकि 'पर्याप्त रूप से वर्णन न किए गए कार्यकलाप' से संबंधित आंकड़े और 'पहली बार काम खोजने वाले व्यक्तियों' आदि को शामिल नहीं किया गया है।
3. द्वितीयक वर्ग के अंतर्गत, 'खनन और खदान', 'विनिर्माण' तथा 'बिजली गैस और जल' शामिल हैं।
4. तृतीयक में थोक और फुटकर व्यापार, परिवहन और संचार तथा अन्य मदें शामिल हैं।

(ङ) कृषि उत्पाद का निर्यात

हमारी जनता के लिए उपभोग के लिए खाद्यान्नों के उत्पादन के अलावा हमारे उपभोक्ता उद्योगों की पूर्ति के लिए विकसित कृषि कच्चे माल के अतिरिक्त काफी मात्रा में ऐसी वस्तुएं पैदा कर देती है जो उत्पादकों की आवश्यकताओं से न केवल अधिक होती हैं बल्कि संपूर्ण राष्ट्र की आवश्यकताओं से भी अधिक होती हैं और जिन्हें निर्यात किया जा सकता है। इन निर्यातों से देश को विदेशी मुद्रा उपलब्ध होगी जिससे हम औद्योगिक विकास के लिए पूंजीगत माल के आयात को वित्तपोषित कर सकते हैं। पूंजीगत माल, किसी भी अर्थव्यवस्था के अंतर्गत, यहां तक कि गांधीवादी विचारधारा की अर्थव्यवस्था के अंतर्गत, किसी भी देश के लिए आवश्यक है। वास्तव में कृषि-निर्यात ऐतिहासिक रूप से विश्व के कई देशों के आर्थिक विकास से सामान्यतया पूर्व अथवा साथ ही साथ हुए हैं। प्राथमिक उद्योगों के बढ़ते हुए उत्पादन जो प्राकृतिक संसाधनों से हुए हैं, उत्पतन अवधियों में आयात पूंजी सज्जा को वित्त पोषित करते हैं जैसा कि अमरीका, रूस और कनाडा के अनाज, स्वीडन की लकड़ी और गूदा, डेनमार्क के डेरी के उत्पादन और जापान की सिल्क के उत्पादन की अवधियों में यह स्थिति देखी जा सकती है।

जहां तक कि संसाधनों का संबंध है भारत की अपेक्षा तायवान अधिक गरीब है। फिर भी अभी हाल ही के 9 वर्षों में वहां उल्लेखनीय आर्थिक उन्नति हुई है। इस देश ने एकाग्रचित्त होकर कृषि विकास की ओर ध्यान दिया है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि यह देश अब कृषि उत्पादनों के निर्यात से काफी विदेशी मुद्रा अर्जित कर रहा है और इससे जो राशियां प्राप्त हुई हैं उनका उपयोग राष्ट्र के उद्योगों के निर्माण में किया जा रहा है। तायवान को इस नीति से इतनी अधिक सफलता मिली है कि गत कुछ वर्षों में उसे अपने विकास के लिए अमरीका से सहायता की आवश्यकता नहीं हुई है।

इसके विपरीत भारत में कृषि-वस्तुओं के (जिनमें मत्स्य पालन, वनरोपण और पशुपालन सम्मिलित हैं) निर्यात के मूल्य जो 1950-51 में कुल निर्यात का 95.4 प्रतिशत था, समय के साथ-साथ कम होता गया है—1955-56 में 92 प्रतिशत से गिरकर 1960-61 में 82.4 प्रतिशत हो गया और 1965-66 में 82.4, 1973-74 में 65.3, 1977-78 में 50.0 और 1978-79 में 48.00 प्रतिशत तक गिर गया है।

जबकि राष्ट्रीय हित की दृष्टि से स्पष्टतया यह मांग है कि भारत उद्योग से हटकर कृषि उत्पादन पर विशेष बल दे ताकि वह खाद्यान्नों में न केवल आत्मनिर्भर ही हो सके अपितु खाद्यान्नों का निर्यात करने वाले प्रमुख देश के रूप में अपने को सुस्थापित करके विदेशी मुद्रा पैदा करने की स्थिति में भी हो जाए।

कृषि के राष्ट्रीय आयोग के अनुसार 2000 ईसवी में खाद्यान्नों की घरेलू मांग 2,050 अथवा 2,250 लाख टन होगी जो हमारे 'कम' अथवा 'ऊंचे' उपभोक्ता स्तर पर निर्भर है।

यदि हम डा० शाह के प्रोजैक्शन-3 (अध्याय 19 देखें) के अनुसार उत्पादन करने के योग्य हो जाएं तो 'उच्चतर' स्तर पर खाद्यान्नों का उपभोग करने पर भी लगभग 1350 लाख टन खाद्यान्न बच रहेगा और यदि इस खाद्यान्न को अंतर्राष्ट्रीय बाजार में बेचा जाए तो इससे प्रतिवर्ष कम से कम 16,000 करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा प्राप्त होगी।

इसलिए हमें उन नकली डिजायनों और औद्योगिक वस्तुएं तैयार करने में अपनी शक्ति बर्बाद नहीं करनी चाहिए जिन्हें हम निर्यात करते हैं और जिनसे सहायता के रूप में 300 करोड़ से अधिक की राशि प्रतिवर्ष नहीं पाते, बल्कि औद्योगिक राष्ट्रों से यही याचना करते रहते हैं कि वे अपने सीमाशुल्क कम करते रहें।

खाद्यान्न और कृषि संगठन ने विश्व खाद्यान्न स्थिति की व्यापक समीक्षा की है जो खाद्यान्न और कृषि संगठन के नवीनतम प्रकाशन—'द स्टेट ऑफ़ फूड एण्ड एग्रीकल्चर, 1979' में संग्रहीत है। खाद्यान्न और कृषि संगठन के महानिदेशक डा० एडाउर्ड साओमा ने अपनी भूमिका में इस शताब्दी के आठवें दशक के संबंध में भी समीक्षा की है और विशेष रूप से संयुक्त राष्ट्र विकास शताब्दी में 'निराशाओं' का जिक्र किया है।

खाद्यान्न और कृषि के क्षेत्र में विकसित विश्व में उत्पादन की वृद्धि की दर इस शताब्दी के आठवें दशक में औसत रूप से लगभग प्रतिवर्ष तीन प्रतिशत रही है—यह इस दशाब्दी के लिए निर्धारित लक्ष्य चार प्रतिशत से $\frac{1}{4}$ भाग कम रही है। कुछ विकसित देश वृद्धि की दर को चार प्रतिशत या इससे अधिक बढ़ाने के योग्य हो गए हैं, फिर भी खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि विकसित देशों और विशेषकर गरीब देशों के आधे से अधिक देशों में बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ कदम से कदम मिलाकर आगे नहीं बढ़ सकी है। विकसित बाजार अर्थव्यवस्थाओं में कम समृद्ध लोग कम से कम 4,200 लाख हैं और ऐसे लोगों की संख्या बराबर बढ़ती जा रही है। 1979 में खाद्यान्न और कृषि उत्पादन की वृद्धि न केवल सीमांत थी अपितु 1972 से सबसे कम भी रही है। 1978 की उपलब्धि की तुलना में 1979 में विश्व अनाज उत्पादन में लगभग 4 प्रतिशत की कमी हुई है।

इसी बीच में आपातकालीन स्थिति तेजी से बढ़ती गई। रिपोर्ट के अनुसार फरवरी 1980 के मध्य में 20 विकसित देशों में खाद्यान्न की बेहद कमी बताई गई जो गत वर्ष इसी समय की कमी से दूनी थी।

इस दशाब्दी के लिए 4 प्रतिशत के लक्ष्य की ओर संकेत करते हुए रिपोर्ट में कहा गया है कि केवल 20 देशों ने ही 4 प्रतिशत प्रतिवर्ष या इससे अधिक की औसत वृद्धि से कुछ अधिक लक्ष्य प्राप्त किया है। आधे से अधिक विकसित देशों में उत्दन वृद्धि जनसंख्या वृद्धि के अनुरूप नहीं हो पायी है। विशेष रूप से, अफ्रीका में और सर्वाधिक गंभीर रूप से प्रभावित तथा सबसे कम विकसित देशों में उत्पादन की निम्न दर दिखाई पड़ी है।

विश्व खाद्यान्न परिषद् ने अभी हाल ही में यह भविष्यवाणी की है कि विश्व

भर में खाद्यान्न की कमी होने जा रही है। इस अध्ययन में अलग से एक अध्ययन भी किया गया है जिस का उल्लेख उस नवीनतम रिपोर्ट में किया गया है जो 1981 से 1990 के लिए प्रादेशिक विकास नीति से संबंधित है और जिसे एशिया और प्रशांत महासागर के आर्थिक एवं सामाजिक आयोग ने तैयार किया है। उसके अनुसार विकसित देशों में अनाज की कमी रहेगी। ये देश इस प्रकार हैं—भारत, इंडोनेशिया, मलेशिया, पाकिस्तान, बंगलादेश, बर्मा, फिलीपीन, कोरिया गणतंत्र, श्रीलंका और थाईलैंड। यह आशा की जाती है कि कृषि उत्पादन की दर 3 प्रतिशत से 5 प्रतिशत प्रतिवर्ष के स्तर से 'ऊंची' रहने पर भी लगभग 2.07 करोड़ टन की पैदावार होगी।

इसलिए इस अवसर का इसी समय लाभ उठाना चाहिए और खाद्यान्न उत्पादन तथा निर्यात के लिए क्षमता बढ़ा लेनी चाहिए। यह स्थिति उन तमाम लोगों को रूढ़िवादी नहीं लगेगी जो बढ़ते हुए औद्योगिक उत्पादन के संबंध में पारंपरिक विचार रखते हैं, जो गैर-पारंपरिक माल से विदेशी बाजारों में हावी होना चाहते हैं और कृषि को केवल अधिक मूल्य लगाकर निम्न स्तरीय उद्योग ही बनाना चाहते हैं। लेकिन वास्तविकताएं हमें बाध्य करेंगी कि हम पूर्णतया भिन्न दृष्टिकोण अपनाएं।

3

भारत की स्थायी आर्थिक स्थिति

यदि भारत की ओर देखा जाए जो हमारे चिंतन और हमारी अभिलाषाओं का उद्देश्य है, तो हमें पता चलता है कि हमारे देश में अन्य देशों की अपेक्षा नितांत भिन्न आर्थिक प्रवृत्ति है। तालिका 30 (पृ॰ 92) से यह स्पष्ट होता है कि बड़े पैमाने के विनिर्माण और अन्तर-निर्माण क्षेत्रकों में उल्लेखनीय विकास के बावजूद कृषि क्षेत्र में कामगारों की संख्या बिलकुल भी कम नहीं हुई है। यह संख्या जो 1911 में 72.3 प्रतिशत थी, 1931 में 72 प्रतिशत ही रही, 1951 में 72.8 प्रतिशत और 1971 में 72.01 प्रतिशत बनी रही। लगभग सभी देशों में आर्थिक विकास इस संख्या की उल्लेखनीय कमी से संबद्ध है। योजना आयोग के अनुसार 1965-75 की दशाब्दी में भी इस क्षेत्र के कामगारों की संख्या 13 एशियाई देशों (पाकिस्तान और बंगला देश मिलाकर) में घट गयी। तथापि, भारत में गत पिछले 25 वर्षों के योजनाबद्ध विकास के दौरान कृषीतर क्षेत्रकों में निवेश की काफी तेजी से वृद्धि हुई परन्तु इससे कामगारों के वितरण पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं हुआ है। 6 दशकों तक खनन और माल तैयार करने वाले कामगार लगभग 9 से 10 प्रतिशत तक रहे और तीसरे प्रकार के वर्ग में लगभग 17 से 19 प्रतिशत तक रहे। निष्कर्ष स्पष्ट है : इन क्षेत्रकों में कामगारों की बढ़ती हुई संख्या को खपाने के अनुपात में रोजगारों की वृद्धि अपर्याप्त ही थी।

तालिका 31 (पृ॰ 93) में 1961 और 1971 की जनगणना-रिपोर्टों के आधार पर भारत के कामगारों के व्यवसायवार वितरण के विस्तृत विवरण दिए गए हैं।

तालिका 29 (पृ॰ 91) में राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के 27वें बार के विवरण दिए गए हैं जो 1972-73 में कामगारों के वितरण से कुछ अलग हैं। सर्वेक्षण किए गए सप्ताह के दौरान प्रत्येक कामगार के बताए गए कार्यकलाप पर यह सर्वेक्षण आधारित है जबकि जनगणना पर आधारित कामगारों का वितरण वर्ष भर के उनके मुख्य कार्यकलाप की रिपोर्ट पर आधारित है। इस प्रकार यदि किसी कामगार को जनगणना के अनुसार कृषि के क्षेत्र में वर्गीकृत किया गया है तो उसे साप्ताहिक रिपोर्ट के आधार पर

किसी अन्य क्षेत्रक में भी दिखाया जा सकता है । इससे यह विदित होगा कि साप्ताहिक सर्वेक्षण की रिपोर्ट के आधार पर कृषि क्षेत्र में लगे हुए कामगारों का अनुपात (69 प्रतिशत) कम है जबकि इसकी तुलना में जनगणना की रिपोर्ट के आधार पर कृषि क्षेत्र में लगे हुए कामगारों का अनुपात (72 प्रतिशत) अधिक है, अर्थात् जनगणना की रिपोर्ट के आधार पर कामगारों की संख्या साप्ताहिक रिपोर्ट के आधार पर कामगारों की संख्या से अधिक है । खनन और विनिर्माण में लगे कामगारों का वितरण दोनों ही प्रकार से लगभग बराबर है और अन्य क्षेत्रकों में साप्ताहिक रिपोर्ट के आधार पर यह वितरण 21 प्रतिशत और जनगणना के आधार पर 18.1 प्रतिशत है। इस प्रकार ऐसा विदित होता है कि कृषि क्षेत्र में लगे हुए कई कामगार अस्थायी रूप से वर्ष के अलग-अलग भागों में अन्य विविध तृतीयक कार्यकलापों में अंतरित हो जाते हैं ।

तालिका 29

साप्ताहिक स्तर के आधार पर रोजगार में लगी हुई जनसंख्या का औद्योगिक वितरण, 1973

संख्या	उद्योग डिवीजन	रोजगार में लगी जनसंख्या (दस लाख में)	प्रतिशतता
1.	कृषि और संबद्ध कार्यकलाप	152.30	69.4
2.	खनन और खदान	1.02	0.5
3.	विनिर्माण	20.52	9.3
4.	विद्युत, गैस और जल	0 57	0.3
5.	निर्माण	7.84	3.6
6.	वाणिज्य और व्यापार	11.98	5.5
7.	परिवहन, भंडारण और सचार	4.18	1.9
8.	सेवाएं :		
	(क) वित्तीय, बीमा और व्यापार	1.14	0.5
	(ख) समुदाय, सामाजिक और मरम्मत	17.25	7.9
9.	ऐसे कार्यकलाप जिनकी पर्याप्त रूप से न तो परिभाषा की गई है और न ही जिनका रिकार्ड है ।	2.70	1.2
	सभी डिवीजन :	219.50	100.0

टिप्पणी : सभी अनुमान राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के 27वें (1972-73) के आंकड़ों पर आधारित है । बिजली, गैस और जल के आंकड़ों का अनुमान रोजगार से रिकार्ड किया गया है क्योंकि राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के आंकड़े कहीं कम थे । खनन और खदान से संबंधित आंकड़े कम करके दिखाए गए हैं ताकि सूचना के अन्य साधनों के अनुसार हों अर्थात् जनगणना और रिकार्ड किए गए रोजगार । ऐसे कार्यकलाप जिनकी पर्याप्त रूप से न तो परिभाषा की गई है और न ही जिनका रिकार्ड है, उनकी संख्या तदनुरूप समायोजन की गई है ताकि रोजगार में लगी कुल जनसंख्या को बदलना न पड़े ।

तालिका 30

रोजगार में लगी हुई जनसंख्या का वितरण, 1911-1971

जनगणना	कृषि		खनन और निर्माण		अन्य		योग	
वर्ष	संख्या (दस लाख में)	प्रतिशतता	संख्या (दस लाख में)	प्रतिशतता	संख्या (दस लाख में)	प्रतिशतता	संख्या (दस लाख में)	प्रतिशतता
1911	88.20	72.3	11.96	9.8	21.84	17.9	122.00	100
1921	87.22	73.1	10.80	9.0	21.48	17.9	120.00	100
1931	89.23	72.0	10.79	8.7	23.93	19.3	124.00	100
1941	89.34	74.0	11.13	9.2	20.33	16.8	121.00	100
1951	101.92	72.8	13.02	9.3	25.06	17.9	140.00	100
1961	119.1	71.94	16.6	10.3	29.8	17.96	165.50	100
1971	129.9	72.01	17.8	9.90	32.7	18.09	180.49	100

स्रोत : 1911 से 1951 के लिए 'सैन्सस आफ इंडिया', 1961 मोनोग्राफ संख्या 4, पृष्ठ 25.

टिप्पणी : 1971 और 1961 के लिए 2 जनगणनाओं, (1961 और 1971) के आंकड़े समायोजित किए गए। रजिस्ट्रार जनरल ने दोनों ही जनगणनाओं में आर्थिक प्रश्नों का फिर से नमूना आधार पर सर्वेक्षण किया जिसकी अवधि दिसम्बर 1971 से जुलाई 1972 की थी ताकि कामगारों के तुलनात्मक अनुमान तैयार किए जा सकें। फिर से सर्वेक्षण करने की आवश्यकता होने का कारण यह था कि दोनों ही जनगणनाओं में कामगारों और अन्य व्यक्तियों के बीच में पहचान करने वाली कसौटी में भिन्नता थी।

तालिका 31

1961 और 1971 में उद्योगवार कामगारों का वितरण

उद्योग		1 मार्च, 1961			1 अप्रैल, 1971	
		कामगारों की संख्या (हजारों में)	प्रतिशतता		कामगारों की संख्या (हजारों में)	प्रतिशतता
1 2	3	4	5	6	7	8
1. कृषि		118286	71.45		129161	71.61
(i) कृषक	84601			78177		
(ii) कृषि मजदूर	27918			47489		
(iii) अन्य कृषि और संबद्ध कार्यालय	5767	{119098}	{71.96}	3495	{129890}	{72.01}
2. बनरोपण और लट्ठे काटना		268	0.51		143	0.40
3. मत्स्यपालन		544			586	
4. खनन और खदान		849	0.51		923	0.51
5. विनिर्माण		15775			16907	
(i) पंजीकृत	3667			5045		
(ii) अपंजीकृत	12108	{18463}		11862	{19889}	
6. निर्माण :		2439	11.15		2447	11.02
7. बिजली, गैस और जलपूर्ति		249			535	

(क्रमशः)

1 2	3	4	5	6	7	8
8. परिवहन, भंडारण और संचार		2917	1.76		4401	2.44
(i) रेलवे	974			1167		
(ii) अन्य साधनों द्वारा परिवहन	1643			2737		
(iii) भंडारन	27			41		
(iv) संचार	273			456		
9. व्यापार, होटल और रेस्टोरेंट		7750	4.68		9028	5.00
10. बैंकिंग और बीमा		257	0.15		561	0.31
11. वास्तविक संपदा और व्यावसायिक सेवाएं		138 } 24211	0.08 } 14.62		307 } 25270	0.17 } 14.02
12. सार्वजनिक प्रशासन और सुरक्षा		3288	2.00		5023	2.79
13. अन्य सेवाएं		12778	7.70		10351	5.74
योग		165538	100.00		180373	100.00

स्रोत : नेशनल एकाउंट स्टैटिस्टिक्स, 1970-71 से 1975-76 (जनवरी, 1978), पृष्ठ 126.

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री कोलिन क्लार्क के अनुसार तीन बड़े उद्योग क्षेत्रों में श्रमिकों के वितरण की प्रतिशतता इस प्रकार है :

तालिका 32

वर्ष	कृषि	उद्योग	कुल श्रमिकों का भाग (70%) सेवा
1881	50.7	36.3	12.7
1901	70.4	13.9 (11.5)	15.7
1911	73.6	12.6 (9.9)	13.8
1921	74.5	11.8 (9.6)	13.6
1931	74.1	11.9 (8.3)	14.0
1951	69.1	13.6 (10.4)	17.3

स्रोत : कोलिन क्लार्क : 'द डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ लेबर बिटवीन इण्डस्ट्रीज, कण्डीशन्स ऑफ इकनॉमिक प्रोसेस', मैकमिलन एण्ड कम्पनी लि०, लंदन, 1960, अध्याय 9, पृ० 510-520।
अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन : इयर बुक ऑफ लेबर स्टैटिस्टिक्स 1977, जेनेवा, पृष्ठ 90, 157।

टिप्पणी : उपरोक्त आंकड़े सिर्फ पुरुष कामगारों के ही हैं। 'उद्योग' में खनन निर्माण, विनिर्माण, विद्युत, गैस, जल और परिवहन एवं संचार शामिल किए जाते हैं। कोष्ठकों में दिए गए आंकड़े खनन, विनिर्माण, विद्युत, गैस और जल से संबंधित हैं।

तालिका 32 के अनुसार 1881 से लेकर 1901 तक कृषि कामगारों की प्रतिशतता 50.7 प्रतिशत से बढ़ कर 70.4 प्रतिशत तक हो गयी है, अर्थात् 19.7 प्रतिशत की वृद्धि हुई है और उद्योगों में लगे कामगारों का प्रतिशत, इसी अवधि के दौरान 36.3 प्रतिशत से 13.9 प्रतिशत तक घट गया है अर्थात् 22.4 प्रतिशत घटा है। यद्यपि कोलिन क्लार्क यह मानता है कि जिन आंकड़ों पर वह निर्भर है, वे बहुत अधिक दुरूह हैं। वह अपने आंकड़ों के समर्थन में दो युक्तिपूर्ण व्याख्याएं देता है :

"भारत में रेल-निर्माण बहुत विलंब से हुआ और 1881 तक भारत परिवहन और संचार के पुराने तरीकों पर ही अधिक निर्भर था। परिवहन इतना खर्चीला है कि इसके लिए आवश्यक है कि अधिकतर जिले आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो जायें और इसके लिए विभिन्न प्रकार के दस्तकारों को अधिकाधिक रूप से संबंधित जिले में ही रोजगार मिलना जरूरी है। जैसे-जैसे परिवहन एवं संचार के आधुनिक साधनों का देश भर में विस्तार होगा, वैसे ही इनसे आर्थिक परिवर्तन में अधिक प्रभाव होगा और इससे, कृषि के समर्थन में, व्यापार में भारी परिवर्तन होगा। बाहर से निर्यात की हुई बहुत ही सस्ती वस्तुओं के कारण अनेक हस्तकलाओं के कामगार बेरोजगार हो गए। इसका एक कारण यह भी था कि समुद्र के किनारे बसे हुए बड़े-बड़े औद्योगिक शहरों में काफी सामान बनने लगा। इसके साथ ही साथ सस्ते परिवहन

साधनों के कारण किसानों के लिए भी लाभकारी निर्यात बाजार मिल गए। इन किसानों की संख्या और भी बढ़ गई क्योंकि इस शताब्दी के नवें दशक में बड़े पैमाने पर सिंचाई के निर्माण-कार्य बढ़ा दिए गए हैं (उस समय भारत के कृषि-उत्पादनों का अधिकांश भाग निर्यात करना होता था जैसाकि अब नहीं है)।"

इसमें कोई संदेह नहीं है कि आधुनिक संसार में रेल एवं सड़क परिवहन के यांत्रिक हो जाने से परिवहन के खर्चे में अपेक्षाकृत अधिक कमी हुई है, फलस्वरूप भारी-भरकम वस्तुओं के ढोने के खर्चे में काफी कमी आई है। उद्योग की अपेक्षा कृषि पर इसका तात्कालिक प्रभाव अधिक होगा : ऐसे परिवहन से उत्पादन क्षेत्रों से माल ढोना आसान होगा और कम कीमत वाली फसलों के उत्पादन को भी ढोया जा सकेगा। इन बिक्रियों की आमदनी से कृषक सस्ता विनिर्मित माल अधिक मात्रा में खरीद सकेगा और उसे गांव के बुनकरों तथा अन्य हस्तकला कामगारों की ऊंचे मूल्य की बनाई गई वस्तुओं को कम खरीदना होगा जो अब तक शहरों में रोजगार तलाश करने के लिए बाध्य हो रहे थे अथवा लगातार कम रोजगार पा रहे थे।

कोलिन क्लार्क ने बैलगाड़ियों से परिवहन के देसी तरीके की रेलवे परिवहन से तुलना करते हुए यह बताया है कि रेलवे परिवहन सस्ता है और हाथ के बनाए हुए माल की तुलना में पंजीकृत उद्योगों से तैयार किए गए माल भी सस्ते हैं जिनका वस्तुतः सामना नहीं किया जा सकता। लेकिन उनका यह मत तथ्यों से सिद्ध नहीं होता कि 1880 में भारत के आधे लोग घरेलू उद्योग और अन्य कृषीतर व्यवसायों में लगे हुए थे। ऐतिहासिक अभिलेख के अनुसार भारत बहुत पहले ही कृषि प्रधान देश बन चुका था।

ईस्ट इंडिया कम्पनी ग्रेट ब्रिटेन की एक व्यापारिक संस्था थी जिसने 1757 में बंगाल में राजनीतिक सत्ता हथिया ली। इस कम्पनी के धोखेबाज और भ्रष्ट कार्य-कर्ताओं तथा हमारे देशवासियों की देशभक्ति में कमी के कारण कम्पनी ने 1857 में भारत में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया और उसी समय ब्रिटिश सरकार ने सीधे ही राजनीतिक प्राधिकार अपने हाथ में ले लिया। इस कम्पनी ने 18वीं शताब्दी और 19वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में भारत के प्रति वही वाणिज्यिक नीति अपनाई जो ग्रेट ब्रिटेन ने आयरलैंड और अपने अन्य उपनिवेशों के प्रति अपनाई थी। भारतीय विनिर्माताओं के दमन के प्रयत्न किए गए और ब्रिटिश विनिर्माताओं की वृद्धि की गई। निषेधात्मक कर लगाकर भारतीय माल को यूरोप में आयात करने का दमन किया गया और लगभग साधारण कर लगाकर भारत में ब्रिटिश माल के निर्यात को प्रोत्साहित किया गया। इंग्लैंड की दोहरे उद्देश्यों की वाणिज्यिक नीति यह थी कि ब्रिटिश उद्योगों के लिए भारत में कच्चे माल का उत्पादन कराया जाए और ब्रिटेन के बने हुए माल की भारत में खपत की जाए। यह नीति अटूट संकल्प और सफलता के साथ अपनाई गई। भारतीय शिल्पियों को ईस्ट इंडिया कम्पनी के कारखानों में जबरदस्ती काम करने के लिए

आदेश दिए गए। कम्पनी के जो कार्यकर्ता वाणिज्य में लगे हुए थे उन्हें भारतीय ग्रामों और बुनकरों के समुदायों पर व्यापक रूप से कानूनी शक्तियां प्रदान की गईं; इंग्लैंड से आए भारतीय सिल्क और सूती माल को निषेधात्मक करों से वंचित किया गया; इंग्लैंड में निर्मित माल भारत में बिना कर अथवा साधारण कर की अदायगी से आने दिया गया।

1813 में हाउस ऑफ कॉमन्स की कमेटी से पूछा गया कि क्या हिंदू महिलाएं अपने पतियों की गुलाम नहीं हैं? इसके उत्तर में सर थॉमस मुनरो ने, जो 27 वर्षों की अवधि के लिए इस देश में ईस्ट इंडिया कम्पनी की सेवा में रहे, उत्तर दिया, "जहां तक मेरा विचार है, मैं समझता हूं कि भारतीय महिलाओं का अपने परिवार में उतना ही प्रभाव है जितना कि इस देश (इंग्लैंड) में महिलाओं का है।" और उनसे जब यह पूछा गया कि क्या खुले व्यापार की स्थापना करके हिंदू सभ्यता में सुधार किया जा सकेगा, उन्होंने यह अविस्मरणीय उत्तर दिया जिसे प्रायः उद्धृत किया जाता है और उनका उत्तर भविष्य में भी दोहराया जाएगा : "मैं नहीं जानता कि हिंदू सभ्यता का क्या अर्थ है : विज्ञान की उच्च शाखाओं में, अच्छी सरकार के सिद्धांत और व्यवहार के ज्ञान में और शिक्षा में, पूर्वाग्रहों तथा अंधविश्वासों को छोड़कर, वे खुले दिमाग से किसी भी स्थान के प्रत्येक प्रकार के ज्ञान को स्वीकार करते हैं। इस रूप में वे यूरोप-वासियों से बहुत पीछे हैं। लेकिन यदि कृषि की अच्छी प्रणाली, अपनी जैसी विनिर्माण क्षमता, सुविधा अथवा विलासिता के लिए उपयोगी माल के उत्पादन की क्षमता; पठन-पाठन, लेखन और अंकगणित के लिए प्रत्येक गांव में स्थापित स्कूल; परस्पर आतिथेय और दानशीलता का सामान्य रूप से व्यवहार; और इसके अलावा महिलाओं से विश्वास, आदर और कोमलता के साथ व्यवहार ऐसे चिह्न हैं जो सभ्य लोगों में पाये जाते हैं और यूरोप के राष्ट्रों के लोगों की अपेक्षा हिंदू किसी भी प्रकार से कम नहीं हैं; यदि सभ्यता को दोनों देशों के बीच व्यापार की वस्तु बनाना है तो मुझे विश्वास है कि इस देश (इंग्लैंड) को सामान का आयात करने से लाभ होगा।"[1]

1832 में संसदीय जांच के पांच वर्षों बाद मॉण्ट गोमरी मार्टिन ने कठोरतम शब्दों में वाणिज्य नीति की अवहेलना करते हुए लिखा :

> "यह सरकारी रिपोर्ट (डॉक्टर बुचनैन्स, 'इकनॉमिक इन्क्वायरीज़ इन नार्दर्न इण्डिया') सरकार को जब से प्रस्तुत की गई तब से क्या इंग्लैंड अथवा भारत में कोई भी प्रभावकारी कदम उठाए गए हैं जिनसे हमारी क्षमता और स्वार्थपरता से दुखी लोगों को लाभ पहुंचा हो? ऐसा कुछ भी नहीं है। इसके विपरीत हमने वह हर संभव उपाय किया है जिससे अंग्रेजों के वाणिज्य की दुर्दमनीय स्वार्थपरता से दीन-दुखियों के कष्ट बढ़े हैं। पाठकों के समक्ष जो पृष्ठ हैं, उनके अध्ययन से यह सिद्ध होगा कि सर्वेक्षण किए गए जिलों में कई

1. 'द इकनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया' (1767-1837)—रोमेश दत्त, खण्ड I, प्रथम भारतीय संस्करण, अप्रैल 1960, पृष्ठ 185-86.

लोग बुनाई की जाने वाली कपास आदि में अपने मालिकों की चतुरता पर आश्रित हैं। मुक्त व्यापार की आड़ में इंग्लैंड ने हिंदुओं को बाध्य किया है कि वे लंकाशायर, यार्कशायर, ग्लासगो आदि में भाप से चलने वाली खड्डियों से तैयार किए हुए माल को लें, जिसे खरीदने के लिए नाममात्र के कर लगाए गए थे जबकि बंगाल और बिहार के हाथ के बने हुए कपड़े का धागा सुंदर और मजबूत था और वे काफी समय तक पहने जा सकते थे लेकिन इन कपड़ों को इंग्लैंड में आयात करने पर कहीं अधिक कर लगाए गए जो एक प्रकार से निषेधात्मक कर थे।"[2]

इतिहासकार एच० एच० विलसन के शब्दों में : "ब्रिटिश निर्माता ने राजनीतिक अन्याय का सहारा लिया ताकि वह अपने प्रतिद्वन्द्वी को हटा सकें और अंततोगत्वा उसका दमन ही कर दे जिसके साथ बराबरी की शर्तों पर प्रतियोगिता नहीं हो सकती थी।" लाखों भारतीय कारीगरों ने अपनी आमदनी खो दी; भारतीय जनता ने अपनी दौलत का एक बहुत बड़ा स्रोत गंवा दिया—यह साधन कृषि के बाद दूसरा ही था।

रोमेश दत्त सी० आई० ई० ने अपनी अविस्मरणीय पुस्तक—'द इकनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया' (विक्टोरिया काल) की प्रस्तावना के पृष्ठ vii-viii पर लिखा है : जब सम्राज्ञी विक्टोरिया 1837 में सिंहासनारूढ़ हुईं तब यह अनिष्ट किया गया था। लेकिन फिर भी इससे पहले जो नीति अपनाई गई थी उसमें भी किसी प्रकार की कोई शिथिलता नहीं बरती गई थी। भारतीय सिल्क के रूमालों की बिक्री अब भी यूरोप में थी लेकिन तैयार की गई भारतीय सिल्क पर अधिक कर लगाए गए थे। संसद में यह पूछा गया कि ब्रिटिश खड्डियों के लिए भारत में कपास कैसे उगाई जा सकेगी। लेकिन यह नहीं पूछा गया कि भारतीय खड्डियों को किस प्रकार सुधारा जाएगा और विशेष समितियों ने यह जानने का प्रयास नहीं किया कि भारतीय विनिर्माताओं को कैसे पुनर्जीवित किया जाएगा। बहुत पहले 1858 में जब ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन समाप्त हुआ था उसी समय भारत एक महान् विनिर्माता देश नहीं रहा। प्रत्यक्षतः कृषि ही एक ऐसा साधन शेष रह गया जिस पर राष्ट्र का जीवन-निर्वाह हो सकता था।"

यदि 1880 में भारतीय अर्थव्यवस्था की दशा के सरकारी प्रमाण की अब भी आवश्यकता हो तो यह प्रथम अकाल आयोग(1880) की रिपोर्ट में नीचे दी गई टिप्पणी से विदित हो जाएगा। यह आयोग ब्रिटिश सरकार ने उस समय नियुक्त किया था जब गत वर्षों में अकाल से देश क्षत-विक्षत हो चुका था।

"भारत के लोगों की निर्धनता और ऐसे जोखिम जो अभाव की ऋतुओं के कारण सामने आते हैं, इनके कारण उन दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों में निहित

2. 'ईस्टर्न इण्डिया'—माण्ट गोमेरी मार्टिन (लंदन, 1838), खण्ड III, भूमिका।

हैं जो अधिकांश जनता को केवल कृषि कार्य करने को ही बाध्य करती हैं। और इस दुखद स्थिति को दूर करने का कोई उपाय कारगर नहीं हो सकता जिसमें ऐसे उपाय नहीं किए जाते कि विभिन्न प्रकार के काम-धंधे प्रारंभ किए जाएं ताकि कृषि कार्यों से ऐसे लोगों को हटाया जा सके जिनकी कृषि कार्यों में खपत नहीं हो पाती और उन्हें विनिर्माण अथवा अन्य प्रकार के रोजगारों में लगाकर जीवन-निर्वाह के अन्य साधनों की ओर नहीं ले जाया जाता।"[3]

इस निष्कर्ष की पुष्टि एक अन्य जाने-माने विद्वान साइमन कुज़नैत्स ने की है जिन्हें नोबल पुरस्कार मिला था। उनका मत है कि भारत में कृषि कार्यों में जो कामगार लगे हुए हैं वे जैसा कि तालिका 33 में दिखाया गया है, 1881 में 74.4 प्रतिशत की संख्या तक पहले ही पहुंच चुके थे।

तालिका 33

श्रम दल के प्रमुख क्षेत्रकों के भागों में दीर्घकालीन परिवर्तन

वर्ष	कुल श्रम शक्ति में हिस्सा (प्रतिशत)		
	कृषि	उद्योग	सेवाएं
1881	74.4	13.8	11.8
1901	72.9	13.6	13.5
1951	72.7	12.2	15.1

स्रोत : सीमोन कुजनैत्स : 'द इकनॉमिक ग्रोथ आफ नेशन्स', हार्वर्ड यूनीवर्सिटी 1971, तालिका 38.

टिप्पणी : 'कृषि' के अंतर्गत विशेषतया वनरोपण के साथ कृषि, मत्स्यपालन और शिकार शामिल हैं। उद्योग में खनन, विनिर्माण, विद्युत शक्ति, गैस, जल और निर्माण शामिल किए जाते हैं। 'सेवा' क्षेत्रक में परिवहन, भंडारण और संचार के अलावा व्यापार, बैंकिंग, बीमा, वास्तविक संपदा से आय और विविध प्रकार की सार्वजनिक तथा निजी सेवाएं शामिल की जाती हैं।

पाठक ने गत पृष्ठों में यह देखा है कि विकसित देशों में राष्ट्रीय उत्पादन के रूप में कृषि क्षेत्रक के भाग के सामान्य रूप से कम होने के कारण प्रति व्यक्ति उत्पादन के लिए सामान्यतया दीर्घकालीन वृद्धि हुई है लेकिन भारत में प्रति व्यक्ति उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई और राष्ट्रीय उत्पादन में कृषि क्षेत्रक के भाग में उल्लेखनीय

3. 'द इकनॉमिक हिस्ट्री आफ इंडिया' (1757–1837)—रोमेश दत्त, खण्ड I, प्रथम भारतीय संस्करण, 1960, पुनर्मुद्रित, अप्रैल 1970, पृष्ठ 199.

गिरावट आई है। के०एम० मुखर्जी[4] ने अपने काफी लंबी अवधि के अध्ययन के परिणामों को सारबद्ध किया है जो इस प्रकार है :

तालिका 34

अवधि	प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय (1947-49 रुपयों में)	राष्ट्रीय आय में कृषि क्षेत्रक के भाग की प्रतिशतता
1900-04	222	81.2
1925-29	273	63.5
1950-50	272	48.7

तालिका 34 से यह विदित होता है कि 1900-04 से लेकर 1952-54 तक राष्ट्रीय आय में कृषि क्षेत्रक के भाग में 40 प्रतिशत की कमी हुई है जबकि इसकी तुलना में विकसित देशों की प्रति व्यक्ति आय में 22 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इसके अलावा जैसा कि हमने तालिका 30 में पहले ही देखा है—श्रमिक दल में प्राथमिक अथवा कृषि क्षेत्रक का भाग कम होने की बजाय उतना ही रहा है जितना कि इस शताब्दी के प्रारंभ में था। श्रमदल में कृषि क्षेत्रक का लगातार भाग और कुल उत्पादन में उसका कम होता हुआ भाग यह प्रकट करता है कि प्रति कृषि कामगार को देखते हुए उत्पादन वस्तुतः गिर रहा था। यह वास्तव में एक आश्चर्यजनक निष्कर्ष है जिसको चुनौती देना कठिन है। पाठक को अगले अध्याय में यह देखने को मिलेगा कि किसी न किसी तरह इस स्थिति में कुछ न कुछ सुधार हुआ है। छठी दशाब्दी के प्रारंभ में उपलब्ध कृषि से दी गई प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय कम होने की बजाय लगभग उन्हीं आंकड़ों के बराबर स्थिर रही है जो गत तीन दशाब्दियों में थे। यह अलग बात है कि 1950-78 के 28 वर्षों की अवधि में उद्योग से प्रति व्यक्ति आय दूने से भी अधिक हो चुकी है।

तालिका 35 (पृ० 101) में यह दिखाया गया है कि प्राथमिक और द्वितीयक क्षेत्रकों की (परिवहन, संचार और व्यापार जो तृतीयक क्षेत्रक के रूप में गिने जाते हैं) आपस में तुलना की जाय तो यह विदित होगा कि 1950-51 से निवल राष्ट्रीय उत्पाद में तृतीयक क्षेत्रक के भाग की प्रतिशतता में तेजी से वृद्धि हुई है। उपसाध्य के रूप में गैर-पदार्थ उत्पादन अथवा उन सेवाओं के मूल्य, जो 1950-78 के 28 वर्षों की अवधि में तृतीयक क्षेत्रक द्वारा की गई है। उनके अनुपात की तुलना कुल भौतिक उत्पादन अथवा उस संपत्ति से, जो प्राथमिक और द्वितीयक क्षेत्रकों को मिलाकर पैदा की गई है, करने पर यह विदित होगा कि 1950-51 से निरंतर रूप से वृद्धि हुई है।

4. 'लेवल्स आफ इकनॉमिक एक्टीविटी एण्ड पब्लिक एक्सपैंडीचर इन इंडिया', एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई, 1965.

तालिका 35

वर्ष	निवल राष्ट्रीय उत्पाद में भौतिक उत्पादन के भाग की प्रतिशतता	निवल राष्ट्रीय उत्पाद में अभौतिक उत्पाद के भाग की प्रतिशतता	स्तंभ 2 की तुलना में स्तंभ 3 का अनुपात
1	2	3	4
1950-51	73.4	26.6	0.36
1960-61	71.3	28.7	0.40
1970-71	70.4	29.6	0.42
1973-74	68.6	31.4	0.46
1974-75	67.5	32.5	0.48
1975-76	68.1	31.9	0.48
1977-78	67.5	32.0	0.48
1978-79	66.9	33.1	0.50

परंतु जैसाकि दूसरे देशों में नहीं है, तृतीयक क्षेत्रक के हिस्से का बढ़ता हुआ अनुपात आर्थिक प्रगति का चिह्न नहीं है। सेवा क्षेत्रक की तुलना में शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद में प्रथम और द्वितीयक क्षेत्रकों के हिस्सों की कमी से किसी भी देश के रहन-सहन का स्तर ऊंचा दिखाई देता है जबकि वहां की कुल जनसंख्या की आधारभूत उपभोग आवश्यकताओं की पहले ही पूर्ति हो जाती है लेकिन यह स्थिति भारत जैसे अत्यंत निर्धन देश की नहीं है जहां लगभग आधे लोग भोजन के लिए पर्याप्त खाद्यान्न प्राप्त नहीं कर पाते। सेवा क्षेत्रक के हिस्से की प्रतिशतता में वृद्धि यह दिखाती है कि वित्तीय संसाधनों का उत्पादक स्रोतों से अनुत्पादक स्रोतों की ओर अंतरण हो गया है और इस परिवर्तन की ऐसी दर है जो कुल अर्थव्यवस्था की बढ़ी हुई दर की तुलना में न्यायसंगत नहीं ठहरती। वास्तव में हमारे देश में तृतीयक क्षेत्रक के श्रम शक्ति के हिस्से में शनैः-शनैः वृद्धि का कारण सरकार द्वारा सेवा क्षेत्रक के उपयोग में निहित है और इससे बहुत ही कम श्रमिक दल को रोजगार दिया जा सकता है।

जब प्रथम और द्वितीय क्षेत्रकों में वास्तविक धन की वृद्धि की दर को मिला दिया जाता है जैसा कि 1960-75 की अवधि में किया गया था तो यह दर केवल 2.6 प्रतिशत थी और यही दर (1961-76) की उसी अवधि में रही। संपूर्ण रूप से नौकरशाही 6 प्रतिशत की दर से बढ़ी। इस नौकरशाही में केंद्रीय और राजकीय सरकारों के नौकर सरकारीवत्* कर्मचारी वर्ग और स्थानीय निकायों के नौकर भी

*सरकारीवत् कर्मचारी वर्ग में वे संगठन शामिल हैं जो पूर्णतया अथवा यथार्थ रूप में सरकार के हैं अथवा उससे नियंत्रित किए जाते हैं (चाहे वे सम्मिलित हों अथवा न हों) यथा भारत, जीवन बीमा निगम, भारतीय स्टेट बैंक, भारतीय रिजर्व बैंक, राष्ट्रीयकृत बैंक, हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड, पोर्ट ट्रस्ट, इंडियन एयर लाइन्स, एयर इंडिया आदि-आदि।

शामिल हैं। इस देश में नौकरशाही की वृद्धि की दर और वास्तविक धन की वृद्धि की दर के मध्य यह विषमता है जिससे उत्पादित सामान और सेवाओं में असंतुलन पैदा हो गया है और कीमतों की वृद्धि के कारणों में से यह एक मुख्य कारण है।

जोनाथन पावर और अन्ना मैरी हौल्सटीन ने यह बताया है कि "किसी भी विकसित देश में तृतीयक क्षेत्रक का प्रसार प्रगति का चिह्न है। वहां की सेवाएं आर्थिक उपलब्धि के लिए वरदान हैं। इसके विपरीत लातीनी अमरीका, एशिया और अफ्रीका में सेवाएं परजीवी हो जाती हैं और धनी लोगों के आकस्मिक कार्यों से पुराने सिक्के निकाल लेती हैं। जूते पर पॉलिश करने वाले लड़के, टिकट बेचने वाले, मालिश करने वाले, सिगरेट बेचने वाले, पर्यटक, दलाल, कुली मुश्किल से निर्वाह कर पाते हैं और आर्थिक विकास में बहुत ही कम अंशदान देते हैं। लातीनी अमरीकी देशों की सेवाओं में लगे कृषीतर श्रमिक दल का अनुपात 60 से 70 प्रतिशत के बीच में है। यूरोप में 40 और 50 के प्रतिशत के बीच में है। 1910 में यूरोप में जो आय का सामान्य स्तर था वह 1960 में लातीनी अमरीका में रहा। इसके फलस्वरूप काम करने वाले लोगों में से केवल 22-23 प्रतिशत लोग ही तृतीयक क्षेत्रक में काम पर लग पाए।"[5]

इसलिए कार्ल मार्क्स ने ठीक ही कहा था कि पूंजीवाद की प्रवृत्ति उत्पादन क्षेत्र में काम करने वाले मजदूरों की संख्या यथासंभव कम कर देती है और शुद्ध रूप से सेवा करने वाले उद्योगों में कामगारों की संख्या बढ़ा देती है (देखिए—एफ० मेहरिंग : कार्ल मार्क्स, पृष्ठ 350)

इस चर्चा के प्रकाश में ऐसा लगता है कि कम्युनिस्ट देशों में आय के स्रोत के रूप में सेवाओं अथवा तृतीयक क्षेत्रक को छोड़ देने का व्यवहार शायद हमारे राष्ट्र की अर्थव्यवस्था की वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन करने का अपेक्षाकृत अच्छा उपाय है। इसकी तुलना में भारत का वह उपाय ठीक नहीं है जो उसने पश्चिमी देशों से लिया है।

5. 'वर्ल्ड ऑफ हंगर', टैंपल स्मिथ, लंदन 1978, पृष्ठ 74.

4

उद्योग की तुलना में कृषि

मुगल शासक से विरासत में आर्थिक गतिहीनता मिली जो ब्रिटिश काल तक चलती रही और 1947 में जब विदेशियों को देश के बाहर किया गया, उस समय अर्थव्यवस्था एक ऐसी स्थिति में आ गई थी जब भारत के काफी लोग यथार्थ में लगभग भूखे थे और अनेक लोग गरीबी की रेखा से नीचे अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। केवल यही स्थिति नहीं थी : कृषि उत्पादन से जो कुछ भी बच पाता था, उसे विदेशी जमींदार और उधार देने वाले व्यक्ति उड़ा ले जाते थे और उसका औद्योगिक वृद्धि के लिए उपयोग नहीं हो पाता था। इसलिए स्वतंत्रता मिलते ही भारत में योजना की प्राथमिकताएं देश के सार्वजनिक जीवन अथवा प्रशासन में उस नौसिखिए को स्पष्ट और सुबोध होनी चाहिए थी जिसका इस देश में कुछ न कुछ उत्तरदायित्व था। कृषि विकास को प्राथमिकता की दृष्टि से प्रथम स्थान देना चाहिए था लेकिन सोवियत रूस की उपलब्धियों, चाहे कम्युनिस्ट विचारधारा न हो, से प्रभावित पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कृषि से हटकर भारी उद्योगों को प्राथमिकता दी। यही कारण है कि जब फिर कभी उनके विचारों में कृषि का महत्व आया तो उन्होंने बड़ी-बड़ी मशीनों से बड़े पैमाने पर सहकारी फार्मों तथा खाद्यान्नों में राज्य व्यापार का समर्थन किया।

पंडित नेहरू अक्टूबर 1954 के अन्त में चीन के दौरे पर गए। वे अपने देश में लौटे और उसके चार दिन के भीतर ही उन्होंने 7 वर्षों की खामोशी के बाद, समाजवाद, पर अपना पहला वक्तव्य दिया। उन्होंने उस समय मंत्रिमंडल, योजना आयोग अथवा अपने दल की कार्यकारिणी समिति से भी परामर्श न करके 9 नवम्बर, 1954 को राष्ट्रीय विकास परिषद् की तीसरी बैठक में भाषण दिया जिसका कुछ अंश इस प्रकार है :

"मैं समझता हूं कि हम जिस तसवीर के बारे में अपना लक्ष्य बना रहे हैं

उसकी स्पष्ट रूपरेखा हमें मालूम होनी चाहिए। मेरे दिमाग में जो तसवीर है वह समाज के समाजवादी ढांचे के बारे में निश्चित और पूरी है। मैं इस शब्द को हठधर्मी होकर प्रयोग नहीं कर रहा हूं लेकिन व्यापक रूप से इसका अर्थ यह है कि उत्पादन पर सामाजिक स्वामित्व होना चाहिए और इसे पूर्ण रूप से समाज के लाभ के लिए नियंत्रित होना चाहिए।"[1]

आगामी दिसम्बर में संसद में, कांग्रेस का भारी बहुमत रहा। नेहरू को संसद के दोनों सदनों में भारतीय लोकतंत्र के लक्ष्य के रूप में 'समाजवादी समाज' अपनाने में किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं थी। अवादी में आयोजित कांग्रेस पार्टी के वार्षिक सत्र (जनवरी 1955) में उन्होंने यह स्वीकार करवाया कि "योजना ऐसी होनी चाहिए जिससे समाज में समाजवादी ढांचे की स्थापना हो सके।" जबकि नेहरू स्वयं अपने कार्यकाल के सभी वर्षों में इस बात के लिए इच्छुक नहीं थे और वे वह सही रास्ता या रास्ते भी नहीं बता सके जिस पर चलकर वे अपने देश का नेतृत्व करना चाहते थे और उसे निर्धारित लक्ष्य तक पहुंचाना चाहते थे।

पं० नेहरू ने दूसरी पंचवर्षीय योजना को अन्तिम रूप देने के लिए जनवरी, 1956 में राष्ट्रीय विकास परिषद् में दिए गए भाषण में कहा :

> "यदि आप भारत का औद्योगिकीकरण करना चाहते हैं और आगे बढ़ना चाहते हैं, जो हमें करना चाहिए और जो हमारे लिए आवश्यक है, तो हमें औद्योगिकीकरण को स्वीकार करना चाहिए और उन पुराने छोटे कारखानों को वरीयता नहीं देनी चाहिए जो सिर के तेल जैसी वस्तुएं बनाते हैं। यह बिल्कुल तुच्छ बात है कि वस्तुएं होनी चाहिए—चाहे वह छोटी अथवा बड़ी उपभोग की वस्तुएं ही क्यों न हों। आपको जड़ और मूल तक जाना चाहिए और औद्योगिक विकास के ढांचे को बनाना चाहिए। इसलिए भारी उद्योग ही ऐसा है जो महत्वपूर्ण है; अन्य किसी को भी महत्व नहीं दिया जा सकता, सिवाय इसके कि संतुलन करने वाले कारखाने अलबत्ता महत्वपूर्ण हैं। हमें भारी मशीनों के निर्माण करने वाले उद्योगों की योजना की आवश्यकता है जिनसे कि हम भारी मशीनें बना सकें और उन्हें हम यथासंभव तीव्रता से स्थापित करा सकें क्योंकि इसमें भी समय लगेगा।"

इसका अर्थ यह था कि भविष्य में भारत सरकार की समस्त विचारपद्धति में केवल भारी उद्योग को ही स्थान मिलना था। इसके फलस्वरूप पहली योजना (1951-56) में कृषि के लिए जो निवेश का अनुपात था वह दूसरी योजना (1956-61) में काटकर आधे से अधिक कर दिया गया और उसी अवधि में औद्योगिक निवेश को लगभग पांच गुना बढ़ा दिया गया। इस प्रकार 1956 में दूसरी योजना के उद्घाटन से एक नये युग की शुरुआत हुई जिसमें हमारी अर्थव्यवस्था के आधार के रूप

1. राष्ट्रीय विकास परिषद्, योजना आयोग, नई दिल्ली, 1955 की तीसरी बैठक, पृष्ठ 4

में समृद्ध कृषि (उपभोग वस्तुओं के उद्योगों के साथ-साथ) के विकास की अपेक्षा पूंजीगत वस्तुओं अथवा उत्पादक वस्तुओं के उद्योग का निर्माण भारतीय योजना का लक्ष्य बन गया। इस नीति-परिवर्तन में पं० नेहरू को अपने सहयात्री प्रोफेसर पी०सी० महालेनोविस से मार्गदर्शन मिला जो योजना आयोग के सांख्यिकी परामर्शदाता नियुक्त किए गए थे। तीन योजना विशेषज्ञों से भी सहायता मिली जो मास्को से तैनात किए गए थे। उन्होंने ही औद्योगिक नीति संकल्प तैयार किया जिसे दूसरी योजना में शामिल कर लिया गया था। तीसरी योजना (1961-66) दूसरी योजना का प्रतिरूप थी। इस योजना में केवल यही परिवर्तन किया गया कि कृषि निवेश में केवल 3.0% की वृद्धि की गई।

योजना की तकनीक

6 जून, 1978 को बम्बई के मुक्त उद्यम के तत्त्वावधान में वरिष्ठ भारतीय अर्थशास्त्री प्रोफेसर सी०एन० वकील ने भाषण दिया था जिसमें उन्होंने कहा था :

"हमारे देश में योजना की तकनीक उस योजना ढांचे पर आधारित है जो 1956 में प्रोफेसर पी० सी० महालेनोविस ने प्रस्तावित की थी। उन्होंने रूसी तकनीशियनों की सहायता ली थी जिन्होंने भारतीय सांख्यिकीय संस्था में काम किया था, जिसके वे निदेशक थे। आर्थिक योजना की संकल्पना ने रूस में क्रांति के बाद जन्म लिया था जबकि कम्युनिस्टों ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली थी। वे रक्षा के प्रति अधिक चिंतित थे क्योंकि वे चारों ओर दुश्मनों से घिरे हुए थे और सुरक्षा ही उनके लिए प्रथम प्राथमिकता थी। उन्होंने एक ऐसी योजना तैयार की जो भारी उद्योगों के तीव्र विकास पर आधारित थी और वस्तुत: जिसकी आवश्यकता रक्षा के लिए थी। उस समय लोगों के कल्याण की बात नहीं सोची गई। वस्तुत: उस सर्वसत्तात्मक शासन के कारण, जिसे उन्होंने स्थापित किया था, वे कम से कम मजदूरी पर अपनी तीसरी योजना में कार्य करने के लिए लोगों को बाध्य कर सकते थे। लोगों के रहन-सहन का उच्चस्तर बहुत बाद में आया जब उन्हें यह महसूस हुआ कि वे उच्च शक्ति की प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं।

" इस दर्शन और तकनीक से अनुप्राणित होकर रूसी विशेषज्ञों ने भारत के लिए भी इसी प्रकार के सुझाव दिए। इसे योजना के लिए भारी उद्योग मॉडल के नाम से जाना जाता है। इस मॉडल में स्टील जैसे बड़े भारी उद्योगों के विकास पर अत्यधिक जोर दिया गया है। विकास के अन्य पहलुओं को छोटा स्थान दिया गया है। इस प्रकार की योजना की मोहकता प्रधानमंत्री पं० नेहरू के मन में बस गई और उन्होंने इस योजना को अपना आशीर्वाद दिया। प्रोफेसर महालेनोविस ने पं० नेहरू के साथ अपने व्यक्तिगत संबंध स्थापित कर लिए थे। पं० नेहरू उनकी उन आकर्षक बातों से प्रभावित हुए

जिन्हें विदेशी विशेषज्ञों का समर्थन प्राप्त था ।

"अर्थशास्त्रियों की नामिका, योजना की रूपरेखा पर बातचीत करने के लिए बुलाई गई । मैंने भी डॉ० पी० आर० ब्रह्मानन्द के साथ दो लेख प्रस्तुत किए जिसमें यह बताया कि हमारे जैसे कृषि प्रधान देश में जो मानसून और बढ़ती हुई जनसंख्या की तरंग से प्रभावित रहता है उसकी योजना के लिए मजदूरों द्वारा तैयार किए गए माल अर्थात् खाद्यान्न और आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन पर जोर देना चाहिए जिसके बिना प्रगति करना संभव नहीं होगा ।"

दूसरी योजना (अप्रैल 1956 के उद्घाटन के साथ ही साथ जवाहरलाल नेहरू ने अमरीका के साथ (29 अगस्त, 1956) को पीएल-480 समझौता[2] किया जिसके अनुसार अपेक्षाकृत कम कीमतों में अमरीकी गेहूं नियमित रूप से खरीदा जा सकता था । इस समझौते के अन्तर्गत भारत सरकार 50 रु० प्रति क्विंटल से कम दर पर अमरीकी गेहूं खरीद सकती थी और उस गेहूं को भारत में ही अच्छा लाभ लेकर बेच सकती थी । 1967-73 की अवधि के दौरान आयातित गेहूं की कीमत 52 रु० प्रति क्विंटल से बढ़ कर 54 रु० प्रति क्विंटल हो गई । हमारी अपनी कृषि के विकास और उसके माध्यम से कृषीतर क्षेत्रकों के विकास की अपेक्षा, जिसे सभी लोकतंत्रीय देशों ने अपना लक्ष्य बनाया था और जो हमारी राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों की मांग थी, उसको छोड़कर पं० नेहरू विदेशी ऋणों और उधार लिए गए खाद्यान्न के बल पर साम्यवादी सिद्धान्त की ओर उन्मुख हो गए । एक ओर सार्वजनिक क्षेत्र में भारी उद्योगों की स्थापना करना था और दूसरी ओर कृषि का तथा अधिक मजदूर रखकर उपभोक्ता उद्योगों का विकास करना था । पं० नेहरू ने पहले प्रकार के कार्य को चुन लिया । उन्होंने जो नीति अपनाई उससे सारे वित्तीय संसाधनों को देश में औद्योगिकीकरण को तीव्र गति देने के प्रयत्न में और इसी बीच सस्ते आयायित गेहूं की कीमतों को बनाए रखने में मोड़ दिया गया । यह एक आगे छलांग मारने का प्रयत्न था ।

पं० नेहरू को इस बात की चिंता थी कि एक नया औद्योगिक आधार तैयार किया जाए और आर्थिक आत्मनिर्भरता की उपलब्धि की जाए । इसलिए उन्हें विकास के मॉडल की जांच किए बिना ही वह सभी कुछ स्वीकार करना पड़ा जिससे वे सामाजिक उद्देश्य भी असफल रह गए जो कभी उनकी विचारधारा में थे । आज की

2. यू० एस० एग्रीकल्चरल ट्रेड डेवलपमैंट एण्ड असिस्टैंस एक्ट, 1954 (अमरीकी कृषि व्यापार और सहायता अधिनियम 1954) 480वां लोक कानून था जिसे 83वीं कांग्रेस ने अधिनियमित किया था और जो आम तौर पर पीएल-480 के नाम से जाना जाता है । इस अधिनियम के तीन मुख्य उद्देश्य हैं: पहला, अमरीकी कृषि वस्तुओं के उपलब्ध फालतू स्टाक को विदेशों में बिक्री, उपहार या वस्तु विनिमय के आधार पर भेजना; दूसरा, अधिक अमरीकी कृषि उत्पादकता को विकासशील देशों में भुखमरी, कुपोषण से सामना करने और आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने के लिए प्रयोग में लाना; और तीसरा, अन्य तरीकों से अमरीका की विदेश नीति का बढ़ावा देना ।

कठिनाइयों के मूल में वही गलत चयन है।

जो देश लगातार खाद्यान्न की कमी से पीड़ित हो और जहां की जनसंख्या बराबर बढ़ रही हो और जहां पूंजीगत संसाधनों की कमी हो और जहां कम से कम लोगों का कल्याण हुआ हो वहां बिल्कुल ही अलग प्रकार के औद्योगिकीकरण के मॉडल की आवश्यकता है जो पश्चिमी देशों के कल्याण करने वाले मॉडल से नितांत भिन्न हो या उस मॉडल से भिन्न हो जो सोवियत रूस ने स्वीकार किया है जिसका मुख्य उद्देश्य अपने देश की क्रांति के प्रारंभिक वर्षों में बढ़ते हुए औद्योगिक सर्वहारा वर्ग का भोजन देने के लिए बढ़े हुए कृषि उत्पादन के फालतू भाग को बचाना ही था।

यद्यपि पहली तीन पंचवर्षीय योजनाएं सकल राष्ट्रीय उत्पाद की लगातार वृद्धि की ओर अग्रसर रहीं, उनमें खाद्यान्न के उत्पादन और लोगों की आधारभूत आवश्यकताओं की अवहेलना की गई तथा उच्च असमान आर्थिक ढांचा तैयार किया गया।

जोनेथान पॉवर और अन्ना होल्सटीन ने अपनी पुस्तक 'वर्ल्ड ऑफ हंगर' (पृष्ठ 89) में विकासशील देशों के औद्योगिकीकरण की निम्नलिखित आशंकाएं व्यक्त की हैं :

> "सभी साक्ष्य यह बताते हैं कि गरीबी से बचने का उपाय जो शहर और औद्योगिक क्षेत्रक के जरिये आता है, संभावित आशंकाओं की अपेक्षा कहीं अधिक कठिनाइयों से भरा हुआ है, जबकि नए स्वतंत्र देशों ने एक या दो दशाब्दी पूर्व इस मार्ग पर चलना शुरू किया था। यह भारी विडंबना ही है कि आर्थिक विचार की दोनों ही बड़ी विचार-पद्धतियों—पूंजीवाद और समाजवाद—ने इसी प्रकार के मिथ्या निराकरण सुझाए हैं। अनेक समाजवादियों ने यह तर्क दिया है कि वास्तविक स्वतंत्रता सशक्त औद्योगिक आधार के बिना संभव नहीं है और पश्चिमी विद्वानों ने यह तर्क दिया है कि विकासशील औद्योगिक क्षेत्रक बाह्य पूंजी को अपनी ओर आकर्षित करने का सर्वाधिक प्रभावोत्पादक मार्ग है।
>
> "अब तीसरी दुनिया के देश इस भ्रमित परामर्श के परिणामों से भटक गए हैं—लगातार खाद्यान्न की कमी, हतोत्साहित जन-जीवन, तेजी से बढ़ती हुई गंदी बस्तियों की जनसंख्या में वृद्धि और आय की बढ़ती हुई असमानता।"

कृषि की अपेक्षा उद्योग को वरीयता देते हुए पंडित नेहरू ने एक प्रकार से घोड़े के आगे गाड़ी लगा दी है। यूरोप में कृषि क्रान्ति से पूर्व औद्योगिक क्रान्ति आई थी। उदाहरण के लिए इंग्लैंड में कृषि प्रणाली में परिवर्तन चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में किए गए थे और बाद की दशाब्दियों में अंग्रेज किसानों ने धीरे-धीरे खेती के नए तरीके निकाले जिससे देश को काफी दौलत मिली। इंग्लैंड औद्योगिक क्रान्ति से बहुत पहले ही समृद्ध हो चुका था। वह भारत की अपेक्षा अधिक शिक्षित था। इस प्रकार औद्योगिक क्रांति सापेक्ष समृद्धि और कृषकों की सापेक्ष शिक्षा के मजबूत आधार से औद्योगिक

क्रांति आई । अधिकांश पूंजी, जिससे प्रारंभिक उद्योग वित्तपोषित किए गए थे, धनी किसानों से मिली थी और वह पूंजी देहातों को लाभ के रूप में मिल गई, इसी प्रकार अमरीका विश्व की सबसे बड़ी आर्थिक शक्ति में बदल गया जहां सबसे पहले कृषि, पशुधन और अर्थ तत्संबंधी व्यापार का विकास हुआ । अमरीका ने अपनी सशक्त बुनियाद पर दोनों ही, छोटे और भारी उद्योग, आगे बढ़ाए । 'अर्थशास्त्र राजनीति का हृदय' है अत: अमरीका इसके साथ ही साथ सबसे प्रमुख शक्तिशाली देश बन गया ।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय तक विकसित अमरीका को अब भी निर्यात करने की अपेक्षा अधिक खाद्यान्न उत्पादनों के आयात करने की आवश्यकता थी लेकिन पांचवें दशक के मध्य में अमरीकी कृषि अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तकनीक, अच्छे बीज, रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशक दवाइयों के अधिक प्रयोग से क्रांतिकारी बना दी गई । खेतों के आकार बढ़ते गए और उन खेतों पर जो लोग काम कर रहे थे, वे आज की जनसंख्या के 5% से कम हो गए जबकि 1940 में वे जनसंख्या के 23% थे ।

यद्यपि अधिकांश अमरीकी फार्म के उत्पाद देश में ही उपभोग कर लिए जाते हैं, फिर भी लगातार बढ़ती हुई वस्तुओं की विदेशों में बिक्री की जाती है । अमरीकी खाद्यान्न निर्यात छठे और सातवें दशक में लगातार बढ़ते गए तथा आठवें दशक में पांच गुने हो गए (1979 में 6 अरब डालर से बढ़कर 32 अरब डालर तक हो गए) । इस प्रकार तेल के आयात से 70 अरब की कमी को पूरा कर लिया गया । अब अमरीका विश्व के शेष सभी देशों के कुल सम्मिलित निर्यात की अपेक्षा गेहूं, मक्का और अन्य मोटे अनाज (जौ, जई) का अधिक निर्यात करता है । अमरीका के 4,130 लाख एकड़ कृषि भूमि के 1/4 भाग में जो भी फसलें उगाई जाती हैं, उनका उत्पादन निर्यात के लिए किया जाता है और भविष्य में विदेशी मांग के बराबर बढ़ते रहने की आशा की जाती है ।

नेहरू ने जिस भारी उद्योग कार्यक्रम के लिए अपना मन लगाया था उसके लिए लगभग यह निश्चित था कि वह कार्यक्रम आर्थिक रूप से बेकार ही जाएगा । केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के कामनवैल्थ अध्ययन के रीडर, पी० टी० बौयर इस्मत्स, ने कहा था कि "उदाहरणार्थ इस कार्यक्रम ने पूंजी-सघनता क्षमता के उत्पादनों के लिए वास्तविक अथवा भावी मांग की उच्च संगतता के प्रतिफल की अवहेलना की है । कृषि क्षेत्रक और उपभोक्ता माल उद्योग ही ऐसे हैं जो अन्ततोगत्वा भारी उद्योग के उत्पादनों के लिए घरेलू बाजार उपलब्ध करायेंगे । भारत में उपभोक्ता माल उद्योगों की बड़ी-बड़ी शाखाएं कई वर्षों से अपनी क्षमता से बहुत कम उत्पादन कर रही हैं जिसका मुख्य कारण यह है कि कृषि के उत्पादन में सफलता नहीं मिली है जिसकी विशेष रूप से वृद्धि होनी चाहिए थी और इसके फलस्वरूप स्थिति यह भी बनी है कि उद्योग के लिए बढ़ते हुए बाजार भी उपलब्ध नहीं हो सके हैं । निर्यातों से अन्ततोगत्वा उत्पादन के कुछ ही अंश के लिए बाजार मिल सकता है लेकिन यह बहुत बड़ा कारक नहीं है । अधिकांश क्षमता पूंजी-सघनता या ऐसे क्रियाकलापों में है जिन्हें उन्नत तकनीक

और कौशल की आवश्यकता होती है। इसके परिणामस्वरूप यह असंभव ही है कि भारत अपने क्रियाकलापों के लिए अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता के लाभ उठा सकेगा। इसके अलावा, कुछ संभव बाजार भी ऐसे देशों में हैं जो भारत के समान ही आत्मनिर्भर हैं।"[3]

आखिरकार परिस्थितियों ने पं० जवाहरलाल नेहरू को बाध्य कर दिया कि वे अपने इस अभिमत पर पुनर्विचार करें कि हमारी अर्थव्यवस्था में कृषि और उद्योग का क्या स्थान है ? लेकिन यह स्थिति उस समय पैदा हुई जब काफी नुकसान हो चुका था। 1963 के अंत में लगभग 2,600 करोड़ रुपए के केवल अनाज के ही आयात उस समय से किए जा रहे थे जब उन्होंने सितम्बर 1946 से शासन की बागडोर अपने हाथ में ली थी। विदेशी कर काफी बढ़ चुके थे और कीमतें भी काफी ऊंची हो चुकी थीं। उस समय उन्होंने यह घोषणा की कि "कृषि उद्योग से अधिक महत्वपूर्ण है।" यह तथ्य 8 नवम्बर, 1963 को राष्ट्रीय विकास परिषद्, नई दिल्ली की बैठक में उनके उद्‌घाटन भाषण के उद्धरण से स्पष्ट होता है :

> "कृषि ही अन्य सभी से अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है, बड़े-बड़े संयंत्र भी नहीं छोड़े जा सकते क्योंकि कृषि-उत्पादन से ही सभी प्रकार की आर्थिक प्रगति होती है। कृषि ही है जिससे प्रगति के लिए साधन सम्पत्ति जुटती है। यदि हम कृषि में असफल रहते हैं तो हम उद्योग में भी असफल हो जाते हैं। मैं इस बात पर इसलिए जोर देता हूं कि इस पर जोर देने के बावजूद भी मुझे ऐसा लगता है कि कृषि प्रायः एक साधारण काम समझा जाता है और सबसे बुद्धिमान मंत्री भी इसके चार्ज को नहीं संभालते।
>
> " कृषि उद्योग से अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है जिसका सरल कारण यह है कि उद्योग कृषि पर निर्भर करता है। उद्योग निस्संदेह बहुत महत्व-पूर्ण है लेकिन उसकी प्रगति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि कृषि ठोस, स्थायी और प्रगतिशील न हो। "

आर्थिक योजना में भारी उद्योग के महत्व के संबंध में उनके बहुत पहले के विचारों को देखा जाए और उसके बाद कृषि पर दिए गए जोर के बारे में सोचें तो ऐसा प्रतीत होगा कि पंडित जवाहरलाल नेहरू स्पष्ट रूप से रूस और चीन के नेताओं ने 1961-62 में जो कुछ कहा था और किया था, उससे प्रभावित थे। क्योंकि उन्होंने कहा था :

> "आप यह देखेंगे कि रूस जैसे उच्च विकसित देश अभी खराब फसलों के कारण कष्ट उठा रहे हैं और ऐसे देश को भी काफी मात्रा में खाद्यान्नों का आयात करना होता है। चीन ने गत 3 वर्षों में कृषि की दृष्टि से बहुत बुरे

3. "प्रॉबलम्स पैराडाक्सिस, प्रौसपैक्टस ऑफ इंडियन प्लानिंग" (भारतीय योजना की समस्याएं, विरोधाभास, भविष्य) 'कैपिटल' के पूरक में प्रकाशित, कलकत्ता, 17 दिसम्बर, 1959.

दिन देखे हैं। वर्ष-दो वर्ष पहले इसकी जो स्थिति थी उससे आज कुछ हालत बेहतर हुई है। लेकिन फिर भी आज उसकी हालत काफी खराब है और जहां कहीं भी लोग यह महसूस करते हैं उनका यह विचार है कि कृषि ही सुदृढ़ प्रगति की कुंजी और आधार है।"

यह दुर्भाग्य की बात है कि हमारे देश में नेहरू जैसे नेता की अपनी ऐसी कोई नीति नहीं थी जो हमारी विशेष परिस्थितियों के अनुकूल होगी, लेकिन वे प्रेरणा के लिए सदैव बाह्य स्रोतों की ओर ही देखते रहे।

'पाइनियर' लखनऊ, दिनांक 24 जनवरी, 1961 ने मास्को शीर्ष के अन्तर्गत 23 जनवरी को एक रिपोर्ट दी जो इस प्रकार है :

"अभी हाल ही में पार्टी सेण्ट्रल कमेटी की बैठक में श्री निकेता ख्रुशचेव ने अपने भाषण में यह घोषणा की थी कि इन उद्योगों की प्रगति की दर, जैसे स्टील उद्योग, कम करके कृषि के लिए अपेक्षाकृत अधिक संसाधन उपलब्ध कराने होंगे।

उन्होंने उस बैठक में पूछा कि ज्यादा स्टील बनाने का क्या लाभ है जबकि भारी संख्या में बढ़ते हुए उपभोक्ताओं को बहुत ही कम रोटी और मक्खन मिल पाता है।

उन्होंने कृषि की उच्च राजनीतिक विशेषता पर बल दिया और अक्षम लोगों को सजा देने की धमकी दी और कहा, 'उन सभी को पार्टी से निकाल देना चाहिए तथा उन पर मुकदमा चलाना चाहिए जो केवल पुस्तकों को पढ़ने में ही अपना समय बिताते हैं'।"

परन्तु चीन के कम्युनिस्ट नेता छठे दशक में आदर्शवादी विचारधारा के कारण अपने देश के कठोर सत्य पर आधारित सामाजिक और आर्थिक तथ्य की अवहेलना करते रहे, वे श्री ख्रुशचेव से कहीं आगे थे जो उपदेश को नहीं चाहते थे। जब अनुभव ने उन्हें यह बताया कि उनके देश की प्राथमिकताओं ने काम नहीं किया है तो उन्होंने उन प्राथमिकताओं को बिल्कुल ही बदल दिया। माओ-त्सीतुंग ने "बहुत आगे की लंबी छलांग" स्वीकार की, तीव्र गति से औद्योगिकीकरण के दुःखद प्रयत्न ने एक दशाब्दी पीछे तक देश को फेंक दिया था और देश भुखमरी के निकट पहुंच गया था। तीन सप्ताहों तक गुप्त बैठक की गई जो 16 अप्रैल, 1962 को समाप्त हुई, नेशनल पीप्लुस कांग्रेस ने एक कार्यक्रम की पुष्टि की जिसके 10वें शीर्षक का यह अभिप्राय था कि "योजना को सुधारा जाए और कृषि, हल्के उद्योग और भारी उद्योग के क्रम से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की तीनों शाखाओं के बीच चतुर्मुखी संतुलन सुनिश्चित किया जाए।" इसके बाद आर्थिक नीति का आधारभूत नियम यह रहा कि "कृषि को आधार और उद्योग को प्रमुख कारक समझा जाए।" इसमें निहित तथ्य यह था कि कृषि विकास के हितों को मुख्य रूप से बनाए रखने के लिए उद्योग को उसकी सेवा

करनी है।

तीन खराब फसलों (1959, 60-61) ने चीन के नेताओं को बड़ी-बड़ी नीतियों में परिवर्तन करने के लिए बाध्य कर दिया। किसानों को लेखा यूनिट में परिवर्तन करके प्रोत्साहन पुनः स्थापित किए गए। 5,000 परिवार कम्यून को 30 परिवार उत्पादन टीमों में बदलकर फिर से यूनिट बनाई गई ताकि पुरस्कार को काम के साथ अधिक समीप लाया जाए। कृषि के लिए व्यापार में बड़े-बड़े सुधार किए गए। इन दोनों में ही खरीद और वसूली की कीमतों के द्वारा सुधार किए गए और विदेशों की कीमतों में कमी की गई और निजी प्लाटों को पुनःस्थापित किया गया।

इस सबका परिणाम यह था कि उद्योगों पर लगाए गए जोर को कृषि के समर्थन में किया गया। चेयरमैन माओ ने जून 1964 में तीसरी पंचवर्षीय योजना पर भाषण देते हुए अपनी विशेष अभिव्यक्ति में इस नीति-परिवर्तन का विशेष उल्लेख किया जो इस प्रकार है :

> "गत वर्षों में योजना का तरीका आवश्यक रूप से रूस से ही सीखा गया था और तुलनात्मक रूप से यह आसान भी था। सबसे पहले आप यह सुनिश्चित करें कि आपको कितने इस्पात की जरूरत है और इसके आधार पर यह अनुमान लगाएं कि कितना कोयला, बिजली, परिवहन और मजदूर तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं की आवश्यकता है और इन कल्पित अनुमानों के आधार पर यह अंदाज करें कि शहरी जनसंख्या में कितनी वृद्धि होने की आशा है और इन सबसे रहन-सहन के लाभ कितने लोगों को हो सकेंगे। यह ऐसा तरीका है जिसमें कैलकुलेटर का प्रयोग किया जाता है। यदि एक बार इस्पात के उत्पादन में कमी आ जाए तो तदनुसार अन्य वस्तुओं में भी कमी आ जाएगी। इस प्रकार का तरीका न तो व्यावहारिक है और न कारगर। इस प्रकार के आकलन में यह हिसाब लगाना कठिन है कि आकाश में बैठा भगवान इस योजना का क्या करेगा। गत कुछ वर्षों में हम अंधकार में अपना रास्ता खोजते रहे हैं और अब हमने एक दूसरा उपाय ढूंढ निकाला है। हमारी नीति यह है कि कृषि को नींव के रूप में और उद्योग को प्रमुख कारक के रूप में समझें। इस नीति के अनुसरण के हिसाब से जब हम किसी योजना का नकशा बनाते हैं तो सबसे पहले हम यह देखते हैं कि खाद्यान्न की कितनी मात्रा पैदा कर सकेंगे और उसके बाद यह अनुमान लगाते हैं कि कितना उर्वरक, कीटनाशक दवाइयां, मशीनरी, लोहा, इस्पात और इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं की आवश्यकता होगी। हम वार्षिक फसल के लिए किस प्रकार योजना बनाते हैं। यह बात इस अनुमान पर निर्धारित की जाएगी कि पांच वर्षों में एक वर्ष में बहुत अच्छी फसल होगी, दो वर्षों में साधारण फसल होगी और शेष दो वर्षों में खराब फसल होगी। यह तरीका अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक और निर्भर करने वाला है।"

माओ-त्सीतुंग, एक व्यक्ति के रूप में, कई वर्ष पूर्व अर्थात् 1958 में वस्तुतः उक्त निष्कर्ष पर पहुंचे थे जब उन्होंने कहा था :

> "कृषि को हमारे देश में प्रथम प्राथमिकता देनी चाहिए । सबसे पहले कृषि और उसके बाद में कृषि पर आधारित उद्योग आते हैं; उसके बाद हल्के उद्योग आते हैं और अंत में रक्षा प्रयोजनों को छोड़कर भारी औद्योगिकीकरण आता है ।"

केवल यही एक तथ्य है जिसे कई दशाब्दियों पहले महात्मा गांधी ने भारत के लिए बताया था। चीन ने कृषि को अर्थव्यवस्था की 'नींव' के रूप में नई नीति का दस वर्षों के व्यवहार के बाद यह परीक्षण किया है कि यह नीति सफल है । कृषि के अन्तर्गत खाद्यान्न को सबसे ऊपर प्राथमिकता दी गई है। आज चीन में कृषि पर अधिक जोर दिया जाता है इसलिए वहां के लोग अपेक्षाकृत अच्छा खाते और पहनते हैं।

चीन के साम्यवादी नेतृत्व ने केवल तीन खराब फसलों का हिसाब लगाया और इसके कारण उन्होंने अपनी नीति में बड़ा भारी परिवर्तन कर लिया—इस्पात के बजाय कृषि को प्राथमिकता दी जाने लगी । लेकिन भारत में सौ खराब फसलों के बाद भी नीति में परिवर्तन नहीं आया। यह व्याख्या इस तथ्य में निहित है कि जबकि माओ-त्सीतुंग ग्रामीण लोगों में से उभरकर आए थे, वहां हमारा शासक परिवार या हमारे शासक परिवार, शहरी विशिष्ट वर्ग से आए हैं जिन्हें बचपन से ही वैभवपूर्ण जीवन मिला है। वे यह नहीं जानते कि कृषि भी एक जैविक प्रक्रिया है जो प्रकृति की अप्रत्याशित और विशेषतया अनियंत्रित शक्तियों से शासित होती है और किसी गरीब आदमी या पूर्ण रूप से राष्ट्र के लिए खराब फसल का क्या परिणाम होता है।

अर्थशास्त्र के नोबल पुरस्कार विजेता वैसली लीयौनटीफ़ ने चीन से लौटने के बाद 'एटलांटिक मन्थली' में लिखते हुए रोचक तथ्य दिए हैं, जो इस प्रकार हैं:

> "तथाकथित शेष अल्पविकसित विश्व में स्पष्ट, समृद्ध और ऐश्वर्यपूर्ण छोटे द्वीपसमूहों को घेरे हुए दुःख के सागर और निहायत अकिंचनता का विभेद इतना प्रभावशाली है कि वह नितांत अविश्वसनीय लगता है । आजकल जो कृषि तकनीक विद्यमान है वह पारंपरिक ही है लेकिन उसको मध्ययुग का नहीं माना जा सकता । लेकिन आज वस्तुतः यह आश्चर्यजनक है कि चिथड़ों में लिपटे हुए भूखे और बीमार आदमियों, औरतों और बच्चों का नितांत अभाव है । निर्धनता का यह दृश्य उन सभी दर्शकों को दिखाई देता है जो एशिया, अफ्रीका या लेटिन अमरीका के कम विकसित क्षेत्र देखने गए हैं। चीन में कृषि का पहला, हल्के उद्योगों का दूसरा और भारी उद्योगों का तीसरा स्थान है । अन्य शब्दों में उपभोग के स्तर को बनाए रखने और उसके बढ़ाने को अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है, बजाय इसके कि उद्योग

और उत्पादन सुविधाओं में अपेक्षाकृत अधिक पूंजी लगाई जाए ताकि सुदूर आगामी पीढ़ियों के लिए रहन-सहन का उच्चतर स्तर सुरक्षित किया जा सके।"[4]

नेहरू ने यह इच्छा व्यक्त की थी कि भारत को औद्योगिकीकरण अथवा कृषीतर संसाधनों के विकास की आवश्यकता है ताकि इस देश की जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा किया जा सके। तथापि भारी उद्योग में सर्वप्रथम जो नीति अपनाई गई उसमें रूस की ही नकल थी; जिस भूल का परिणाम यह हुआ कि इस देश में एक समस्या के स्थान पर कई समस्याएं उत्पन्न हो गई हैं।

बड़े-बड़े संयंत्रों और परियोजनाओं से कोई अंतर नहीं आता अथवा अधिकांश लोगों की समृद्धि के लिए भी कोई अंतर नहीं हो पाता जैसाकि पहले कभी अनुमान लगाया गया था। औद्योगिकीकरण 19वीं शताब्दी के मध्यकाल में भारत में मिलों और कारखानों के आधुनिकीकरण के रूप में प्रारंभ हुआ था। फिर भी, भारत में कुल उत्पादन के लिए संगठित औद्योगिक क्षेत्रक का योगदान 1948-49 में केवल 6.3 प्रतिशत था। 13 वर्षों में गलत अनुपात से संगठित उद्योग में भारी निवेश किए गए जिसके बाद अप्रैल 1956 से मार्च 1969 तक केवल 7.5 प्रतिशत की ही वृद्धि हो सकी। 1960-73 की अवधि के दौरान संगठित क्षेत्रक ने राष्ट्रीय आय (मैन्यूफैक्चरिंग कर्मचारी वर्ग 9.6+खनन, 1.1 दर्ज की गई) में केवल 10.7 प्रतिशत प्रतिवर्ष योगदान किया।

ऐसा कुछ भी नहीं है जिसका कि कोई कारण न हो और इसी संदर्भ में महात्मा गांधी ने कहा था : "मिलों और शहरों की संख्या में वृद्धि वस्तुतः भारत की समृद्धि में योगदान नहीं करेगी।" और इसके लिए कहीं दूर कोई कारण नहीं खोजना है : बड़े-बड़े संयंत्रों और परियोजनाओं पर लगाए गए कामगारों की संख्या विशाल जनसंख्या की दृष्टि से बहुत ही कम है और पूंजी निवेश की प्रति यूनिट आय भी बहुत कम है। वस्तुतः सभी प्रकार के अन्य आर्थिक उद्यमों में सबसे कम है। केवल इतना ही नहीं, यदि इन संयंत्रों और परियोजनाओं को माल तैयार कराने के लिए लगा दिया जाए अथवा उससे ऐसी सेवाओं को उपलब्ध कराया जाए जो पहले ही छोटे और कुटीर उद्योग के स्तर पर की गई हैं, तो इससे केवल बेरोजगारी ही बढ़ेगी और देश की वास्तविक उत्पादकता में किसी प्रकार का कोई सुधार नहीं होगा। पाठक को बाद में यह विदित होगा कि वास्तविक तथ्य यह है कि आधुनिक कारखानों ने हमारी अर्थव्यवस्था को गैर-औद्योगिक बनाने में मदद की है और हमारे लाखों कामगारों को बेरोजगार बना दिया है।

पूर्ण रूप से राष्ट्रीय आय की घटा-बढ़ी, कृषि के तदनुरूपी योगदान के कारण विशेष रूप से होती रहती है। यह स्थिति तालिका 36 से स्पष्ट हो जाएगी। इस तालिका में कृषि से शुद्ध घरेलू उत्पाद की वृद्धि का प्रतिशत प्रकट होगा और एक सी ही कीमतों पर निवल राष्ट्रीय उत्पाद अथवा आय (दोनों ही राष्ट्रीय और प्रति

4. 'इकनॉमिक टाइम्स', लंदन, 25 अगस्त, 1974 से उद्धृत।

तालिका 36

कृषि से निवल घरेलू उत्पाद और राष्ट्रीय आय (कुल योग और प्रति व्यक्ति) की दर से : 1960-61 से 1978-79 तक

अवधि/वर्ष	उपकरण लागत (1970-71 की कीमतों) पर कृषि से निवल घरेलू उत्पाद		उपकरण लागत (= राष्ट्रीय आय) (1970-71 की कीमतों) पर निवल राष्ट्रीय उत्पाद			
			कुल योग		प्रति व्यक्ति	
	करोड़ रुपयों में	गत वर्ष की तुलना में परिवर्तन की प्रतिशतता	करोड़ रुपयों में	गत वर्ष की तुलना में परिवर्तन की प्रतिशतता	रुपए	गत वर्ष की तुलना में परिवर्तन की प्रतिशतता
1	2	3	4	5	6	7
1960-61	13143		24250		558.8	
तीसरी योजना						
1961-62	13234	0.7	25039	3.3	563.9	0.9
1962-63	12875	(—) 2.7	25414	1.5	559.8	(—)0.7
1963-64	13204	2.6	26746	5.2	576.4	3.0
1964-65	14429	9.3	28808	7.7	607.8	5.4
1965-66	12279	(—)14.9	27103	(—)5.9	558.8	(—)8.1
वार्षिक योजनाएं						
1966-67	12084	(—) 1.6	27298	0.7	551.5	(—)1.3
1967-68	14043	16.2	29715	8.9	587.3	6.5
1968-69	14121	0.6	30513	2.7	589.1	0.3

क्रमश:

1	2	3	4	5	6	7
चौथी योजना						
1969-70	15034	6.5	32408	6.2	612.6	4.0
1970-71	16354	8.8	34235	5.6	632.8	3.3
1971-72	16209	(—)0.9	34715	1.4	626.6	(—)1.0
1972-73	15118	(—)6.7	34191	(—)1.5	604.1	(—)3.6
1973-74	16298	7.8	35967	5.2	621.2	2.8
1974-75	15917	(—)2.3	36411	1.2	616.1	(—)0.8
1975-76	17969	12.9	40011	9.9	662.4	7.5
1976-77*	16902	(—)5.9	40534	1.3	658.0	(—)0.7
1977-78*	18867	11.6	43857	8.2	697.2	6.0
1978-79@	19167	1.6	45637	4.1	712.0	2.1

* अस्थायी

@ शीघ्र आकलन

स्रोत : 1. नेशनल एकाउण्ट्स स्टैटिस्टिक्स (राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी) 1970-71—1976-77 (जनवरी 1979).

2. नेशनल एकाउण्ट्स स्टैटिस्टिक्स (राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी) 1970-71—1977-78 (फरवरी 1980).

3. 1978-79 के राष्ट्रीय उत्पाद, बचत और पूंजी-निर्माण के अनुमानों पर प्रेस नोट (फरवरी 1980).

व्यक्ति की दर से) दिखाई गई है। ऐसी भी अवधियां हैं जब राष्ट्रीय आय में तेजी से वृद्धि हुई है और एकाएक ही कमी आ गई है। इन उतार-चढ़ावों का मुख्य कारण यह है कि कृषि उत्पादन में परिवर्तन हुए हैं।

कृषि क्षेत्रक ने राष्ट्रीय स्तर पर वर्ष 1964-65, 1967-68, 1975-76 और 1977-78 में क्रमशः 9.3, 16.2, 12.9 और 11.6 प्रतिशत की वृद्धि दिखाई गई है और इन वर्षों के लिए क्रमशः 7.7, 8.9, 9.9 और 8.2 प्रतिशत की वृद्धि दिखाई गई है।

पाठक अनिवार्य रूप से इस निष्कर्ष पर पहुंच जाता है कि हमारे देश की परिस्थितियों में हमारे लोगों के रहन-सहन के स्तर में समान रूप से कोई वृद्धि नहीं होती जब तक कि कृषि के उत्पादन में वृद्धि न हुई हो, जबकि अन्य क्षेत्रकों में तीव्र गति से वृद्धि हुई है।

इसके विपरीत, वर्ष 1965-66 और 1972-73 में 14.9 और 6.7 प्रतिशत कृषि उत्पादन में तेजी से कमी हुई है जिसके फलस्वरूप 1965-66 में निवल घरेलू उत्पाद में 5.4 प्रतिशत और गत वर्ष की अपेक्षा 1972-73 में 1.5 प्रतिशत की कमी हुई है। अन्य सभी क्षेत्रकों में इन वर्षों में कुछ वृद्धि हुई है लेकिन उनका कुल मिला-कर प्रभाव इतना कम था कि कृषि क्षेत्रक की बड़ी कमी को पूर्णतया प्रतिसाद नहीं कर पाया।

इससे भी अधिक संगत तथ्य यह है कि जब कभी कृषि उत्पादन में कुछ भी कमी आई, यह कमी कुल जनता की प्रति व्यक्ति आय में भी तदनुरूप कमी दिखाती रही है।

इस संबंध में पाठक को यह जानना चाहिए कि कम्युनिस्ट देशों में राष्ट्रीय आय के केवल दो भाग हैं, अर्थात् प्राथमिक क्षेत्रक से आय और द्वितीयक क्षेत्रक से आय। तृतीयक क्षेत्रक (अथवा सेवा) से आय 1960-73 में भारत के निवल उत्पाद की 33 प्रतिशत थी और जिसे कम्युनिस्ट देशों में आय का स्रोत नहीं समझा जाता है। इस प्रकार हिसाब लगाकर भारत में कृषि से आय अथवा प्राथमिक क्षेत्रक (खनन को छोड़कर) की आय राष्ट्रीय आय का 2/3 भाग रही।

विभिन्न राज्यों में आर्थिक स्तरों के अन्तर विशेषतया कृषि उत्पादन के अन्तरों के कारण हैं। छठे दशक के अन्त में योजना आयोग के अध्ययन लेख में यह स्वीकार किया गया था कि "जिन राज्यों ने कृषि उत्पादन में काफी अच्छी प्रगति की है, उन राज्यों ने अन्य दिशाओं में भी काफी प्रगति की है।" यह आम समझ की बात है कि बिहार देश का सबसे गरीब राज्य है जहां पश्चिमी बंगाल को छोड़कर अन्य सभी राज्यों की तुलना में सबसे अधिक उद्योग हैं, जबकि पंजाब और हरियाणा में प्रति व्यक्ति आय सबसे अधिक रही है जहां भारी उद्योगों की बहुत कमी है, लेकिन जहां देश भर में सबसे अधिक कृषि उत्पादन होता है। 1960-61 में 306 रुपये अखिल भारतीय औसत की तुलना में वर्ष 1960-61 और 1968-69 के मध्य वर्तमान कीमतों के आधार पर प्रति व्यक्ति आय बिहार में 211 रु० से बढ़कर 402 रु० और पंजाब में 374 रु० से बढ़कर 881 रु० तक हो गई है।

जैसा कि पहले कहा गया है, उसकी आर्थिक पुष्टि के रूप में आगे एक विवरण दिया गया है जिसमें राज्यवार निवेश के विवरण और प्रति व्यक्ति आय, सरकारी क्षेत्र के उद्यम द्वारा उपलब्ध प्रत्यक्ष रोजगार दिखाए गए हैं, जैसी कि 31-3-1979 को स्थिति थी।

तालिका 37

देश में विभिन्न राज्यों की जनसंख्या के अनुसार प्रति व्यक्ति आय और प्रतिशतता का हिस्सा और राज्यवार निवेशकृत विवरण तथा सरकारी क्षेत्रक के उद्यम द्वारा उपलब्ध रोजगार के आंकड़े जैसी कि 31-3-1979 को स्थिति थी।

क्रम संख्या	राज्य	सरकारी क्षेत्रक के उद्यम		चालू कीमतों के हिसाब से प्रति व्यक्ति आय‡	
		निवेश* सकल ब्लाक (करोड़ रुपए में)	नियुक्त व्यक्तियों की संख्या† (लाखों में)	1973-76 (औसत)	1977-78
1		2	3	4	5
1.	आन्ध्र प्रदेश	513.89	0.67	928	999
2.	आसाम	382.68	0.24	अनुपलब्ध	932
3.	बिहार	2877.02	4.25	645	735
4.	गुजरात	762.24	0.40	1134	अनुपलब्ध
5.	हरियाणा	213.90	0.10	1399	1600
6.	कर्नाटक	529.82	1.01	1045	1129
7.	केरल	382.74	0.24	948	987
8.	मध्य प्रदेश	1846.13	2.26	776	904
9.	महाराष्ट्र	976.56	1.66	1349	1628
10.	उड़ीसा	710.28	0.60	793	857
11.	पंजाब	344.52	0.16	1586	1962
12.	राजस्थान	291.97	0.28	853	948
13.	तमिलनाडू	615.78	0.63	942	1036
14.	उत्तर प्रदेश	658.12	0.72	715	916
15.	पश्चिमी बंगाल	1082.88	3.46	1033	1268

* इन आंकड़ों में नेशनल टैक्सटाइल्स कारपोरेशन और उसकी शाखाओं, बीमा कम्पनियों और धारा 25 के अन्तर्गत कम्पनियों द्वारा किए गए निवेश को छोड़ दिया गया है।

† इन आंकड़ों में नेशनल टैक्सटाइल्स कारपोरेशन और उन शाखाओं के कर्मचारियों से

(क्रमश:)

संबंधित विवरण शामिल नहीं किए गए हैं जिनमें 1977-78 में लगभग 2 लाख कर्मचारी काम करते थे। इसके व्यय में वेतन, मजदूरी और अन्य लाभ जिनमें 1977-78 के दौरान कर्मचारियों को देय बोनस भी शामिल किया गया है, की राशि 1,645.51 करोड़ रुपए थी जो औसतन 10,046 रुपए प्रति कर्मचारी आती है।

‡ तरीके के और उपयोग में लाई गई स्रोत सामग्री के अन्तर के कारण अलग-अलग राज्यों के आंकड़ों की तुलना नहीं की जा सकती।

इसी प्रकार राज्य के विभिन्न जिलों में प्राप्त किए जाने वाले आर्थिक स्तरों के अन्तर उनके कृषि-उत्पादन के अन्तरों से जाने जा सकते हैं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री स्वर्गीय डॉ० बलजीतसिंह, लखनऊ विश्वविद्यालय ने 'उत्तर प्रदेश के अन्तर जिला आय और आर्थिक पक्ष', 1974, नामक पुस्तिका में यह निष्कर्ष निकाला :

"सामान्य रूप से कुछ ऐसे जिलों को छोड़कर जिनकी विशिष्ट विशेषताएं हैं, विशेषकर देहरादून और लखनऊ, अन्य जिलों में निवल घरेलू उत्पाद का उच्चतर मूल्य खेती और पशु पालन से सम्बद्ध है···

" ऐसा प्रतीत होता है कि कानपुर और लखनऊ में बड़े पैमाने के उद्योगों का विकास इन जिलों के कुल निवल घरेलू उत्पाद को बढ़ाने में सफल नहीं हुआ है, जबकि मेरठ जिले में कृषि के विकास ने बड़े पैमाने पर निर्यात-उद्योग को कहीं आगे बढ़ा दिया है। इससे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि विकास की प्रारंभिक आवश्यकताओं में कृषि ही है जो, बड़े पैमाने पर निर्माता उद्योगों की अपेक्षा, प्रमुख भूमिका निभाती है।"

बढ़ते हुए कृषि-उत्पादन का महत्व हमारे मस्तिष्कों में अमिट छाप छोड़ देगा, यदि हम यह याद कर सकें कि दुर्गापुर, भिलाई और राउरकेला के तीन इस्पात संयंत्र (जिनसे यह आशा की जाती थी कि वे प्रति वर्ष तीस लाख टन इस्पात की सिल्लियां बना देंगे लेकिन वे बड़ी मुश्किल से 12.5 टन इस्पात की सिल्लियां ही बना पाते हैं) जिन पर संघीय सरकार को स्वाभिमान है, उनकी लागत 1951 से 1976 की अवधि में 1125 करोड़ रुपये हो चुकी है। इसी अवधि में हमने वर्तमान कीमतों पर 7,200 करोड़ रुपये के मूल्य का खाद्यान्न और लगभग 2,000 करोड़ रुपये की कपास आयात की है। यह भी स्मरणीय है कि आयात किये गये खाद्यान्न की कीमत प्राय: विदेशी मुद्रा में दी जाती है। यदि हम अपने खाद्यान्न आदि कपास को स्वयं ही उगाते तो आयात किये गये खाद्यान्नों की कीमतों में वृद्धि की दृष्टि से कम से कम इसी प्रकार से एक दर्जन इस्पात संयंत्र बिना कुछ किये ही लगा लेते।

यह सत्य है कि औद्योगिकीकरण की आवश्यकता है यदि हम अपनी जनता के स्तर को ऊंचा करना चाहें।' लेकिन औद्योगिकीकरण तभी हो सकेगा और इसके फलस्वरूप हमारे रहन-सहन का स्तर उसी सीमा तक ऊंचा होगा जब हम कामगारों को कृषि से उठाकर कृषीतर व्यवसायों में लगा सकेंगे। और यह परिवर्तन तभी हो सकता है जब कृषि-उत्पादन में वृद्धि हो और कृषि-उत्पादन दरों की आवश्यकताओं से अधिक

अन्न पैदा होने लगे। इस प्रकार कृषि-उत्पादन की वृद्धि से स्पष्ट है और यह सिद्ध भी हो चुका है कि यही देश की समृद्धि का प्रमुख कारण है। केवल इतना ही नहीं, बल्कि कृषि के सहारे औद्योगिकीकरण अधिक होगा जिसके फलस्वरूप हमारे कामगारों को नये रोजगार भी मिलेंगे। अगले अध्याय में यह दिखाया जायेगा कि भारतीय राजनीतिक नेतृत्व से कोई आशा की जा सकती है तो वह यह है कि भारी उद्योग को कम करना होगा, अथवा कम-से-कम मात्रा में उसे घटाना होगा, वर्तमान बेरोजगारी और कम-रोज़गारी तथा आजकल के बढ़ते हुए श्रमिक दल के बारे में भी सोचना होगा, अथवा निकट भविष्य में जो परिणाम होंगे उनके बारे में भी विचार करना होगा। गांधीवादी दृष्टिकोण पर आधारित औद्योगिकीकरण की नीति ही केवल एक ऐसा विकल्प है जिसका अगले पृष्ठों में प्रतिपादन किया गया है जिससे बेरोजगारी की समस्याओं का निराकरण और आय की असमानताओं को दूर किया जा सकेगा। तब भी, आने वाली कई दशाब्दियों तक कृषि उत्पादन जारी रखा जायेगा ताकि हमारी जनता के लिए आय का सबसे बड़ा स्रोत उपलब्ध हो सके।

इस प्रकार कृषि निकट भविष्य में उद्योग की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है—बड़े-बड़े इस्पात अथवा अन्य भारी उद्योगों की अपेक्षा भी अधिक महत्वपूर्ण है। कृषि को प्रथम प्राथमिकता दी जाती है जिसमें किसी प्रकार का कोई प्रश्न या संदेह करने की गुंजाइश नहीं है। इसका यह मतलब नहीं है कि औद्योगिकीकरण अथवा इस्पात के उत्पादन से किसी को विरोध है। जबकि औद्योगिकीकरण के लिए इसकी आवश्यकता है लेकिन विरोध करने की आवश्यकता इसलिए है कि मनुष्य केवल औद्योगिक वस्तुओं से जीवित नहीं रह सकता, इसलिए कृषि की भूमिका को न चाहते हुए भी रियायत देनी होगी जो हमारे आर्थिक आयोजन और राजनीतिक नेता नहीं दे पाये हैं।

यह स्वीकार किया जा सकता है कि आयोजकों का उद्योग पर जोर देना केवल इस तथ्य के कारण नहीं है कि किसानों की अपेक्षा उद्योगपति अधिक सशक्त सुस्पष्ट और बोधगम्य हैं बल्कि ज़मीन और उसकी समस्याएं अपेक्षाकृत अधिक कठिन हैं जिसका औद्योगिक क्षेत्रक की तुलना में प्रबंध करना कठिन है। यह काफी आसान है कि कई इस्पात संयंत्र अथवा अन्य बड़े-बड़े संयंत्र विदेशी सहायता से खड़े कर लिये जायें। लेकिन जहां पहले केवल एक ही बाली उगा करती थी वहां अनाज की दो बालियों को पैदा करना कठिन है। वस्तुतः यह कठिन समस्या है। पैदावार को अधिक सरलता से मापा जा सकता है और संगत निवेश को भी अधिक आसानी से स्पष्ट किया जा सकता है। यह स्थिति कृषि की अपेक्षा उद्योग में सरल है। इसके अलावा उद्योग से अपेक्षाकृत उल्लेखनीय परिणाम मिल जाते हैं जबकि कृषि में ऐसा नहीं हो पाता जिसके परिणाम कठोर होते हैं, और यह भी विडम्बना है कि हमारे बुद्धिजीवियों के मस्तिष्कों में कृषि को पिछड़ेपन और गरीबी से संबद्ध कार्य माना जाता है। हांगकांग में एक पश्चिमी विद्वान ने 'न्यूज़ वीक', न्यूयार्क के रिचर्ड स्मिथ से मई 1976 में कहा था, "किसी भी उर्वरक पर 500 लाख डालर व्यय करना उतना नाटकीय नहीं है जितनी राशि किसी फैक्टरी पर व्यय करना, जिसमें से हममें से प्रत्येक

को निकला हुआ धुआं देखने को मिल जाता है।"

लेकिन कृषि से कोई बचाव भी नहीं है। जहां तक खाद्यान्न के अलावा अन्य वस्तुओं के प्रयोग से रहन-सहन के स्तर की जांच की जाती है, वहां फैक्टरी-उत्पादन उच्च स्तर बनाने वाला होगा अथवा वास्तव में बना भी देता है। फिर भी, मनुष्य को प्रत्येक वस्तु से कहीं अलग हट कर और उससे ऊपर खाद्यान्न को रखना होगा। हमारे जैसे अधिक जनसंख्या वाले देश में केवल इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव-शक्ति को केन्द्रित करना होगा। खाद्यान्न का अर्थ यह है कि भूमि का अधिकाधिक उपयोग किया जाये और इतना उपयोग किया जाये कि वह ह्रासमान प्रतिफल के पैमाने से नीचा रहे ताकि पर्याप्त खाद्यान्न की व्यवस्था की जा सके। जब तक हम अन्न-संकट से मुक्त नहीं हो जाते, तब तक फैक्टरी-उत्पादन अथवा औद्योगिकीकरण के प्रति सीमित दशा में ही ध्यान देना होगा, ताकि इससे केवल उतनी ही वस्तुओं की उपलब्धता हो सके जिसकी कृषि उत्पादकता के विकास और हमारी सीमाओं की सुरक्षा के लिए आवश्यक साज-सामान के लिए जरूरत है।

डॉ० एल्मेर पेंडेल ने कहा है :

> "औद्योगिक समृद्धि की गहराई और स्थायित्व के बारे में व्यापक रूप से भ्रांति-सी फैली हुई है। औद्योगिक क्रांति ने अनेक लोगों के मन में आदमी और पृथ्वी के संबंध के बारे में भ्रम पैदा कर दिया है। इसका कारण यह है कि जहां कहीं भी अधिक अन्न बच जाता है उसे उन क्षेत्रों में ले जाया जा सकता है जहां औद्योगिक क्रांति सबसे अधिक उन्नतिशील थी। जिन लोगों के पास अतिरिक्त खाद्यान्न है, वे अपने अतिरिक्त खाद्यान्न को बेचने में अधिक प्रसन्न रहे हैं, क्योंकि उनकी क्रयशक्ति बढ़ गई है ताकि वे मशीनों द्वारा बनाई गई वस्तुओं को खरीद सकें। वास्तव में जो लोग मशीनों पर काम करते हैं वे प्राय: उन लोगों से अधिक अच्छी हालत में हैं जो खाद्यान्न पैदा करते हैं। लेकिन यह लाभ तभी मिल सकता है जब खाद्यान्न की अधिकता हो। जब खाद्यान्न की कमी है तो जो लोग खाद्यान्न पैदा करते हैं उन्हें अधिक लाभ होता है। अभाव के वर्षों में, जो भविष्य में आ जायेंगे, जो लोग अपने खाद्यान्न के लिए अन्य लोगों की ज़मीन पर आश्रित हो गये हैं, वे अपने को तिरस्कृत समझते हैं। क्रमिक उत्पादन बिजली के बेलचे, तेज़ रफ़्तार की मोटर गाड़ियां और हवाई जहाज़—ये सभी खिलौने और सस्ती चीज़ें हैं। लेकिन आदमी को तो भोजन करना ही होगा।"[5]

आज जिन परिस्थितियों में भारत में कृषि की जाती है उनको बदलना ही होगा और उनमें क्रांतिकारी परिवर्तन करना ही होगा। यदि हमने ऐसा नहीं किया और खाद्यान्न का अभाव बना रहा, जबकि मनुष्य के लिए पहली आवश्यकता भोजन

5. 'पॉपुलेशन ऑफ द लूज', न्यूयार्क, 1951, पृष्ठ 34.

ही है, जो ऐसी अन्य वस्तुओं से सशक्त है जो उद्योगों या सेवाओं से यथासम्भव उपलब्ध हो सकती हैं और, इसके अलावा जब एक जैसी परिस्थितियों में ही कम लोगों की अपेक्षा अधिक लोग उसी क्षेत्र में अधिक खाद्यान्न उपजा सकते हैं, तो आज उद्योगों और सेवाओं में जो कामगार लगे हुए हैं उन्हें फिर वापिस जमीन या कृषि की ओर जाना होगा। इसके बाद कृषीतर व्यवसाय न तो अधिक उत्पादन कर सकेंगे और न उनमें समृद्धि होगी, बल्कि उनमें अवनति ही होगी। इस प्रकार रहन-सहन का स्तर जो पहले ही बहुत नीचा है, आगे और भी नीचा होता चला जायेगा। और अंततोगत्वा अकाल अपने बड़े-बड़े कदमों से भूमि को रौंद देगा।

आर्थिक जीवन-क्षमता, चाहे वह आंतरिक हो अथवा बाह्य हो, कृषि को छोड़ देने पर सम्भवतः उपलब्ध नहीं हो सकती। इस जीवन-क्षमता के साथ न केवल आंतरिक राजनीतिक स्थायित्व ही सम्बद्ध है बल्कि इससे हमारी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा भी सम्बद्ध है। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है—खाद्यान्न अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह एक स्पष्ट सम्भावना है कि अमरीकी खाद्यान्न को राजनीतिक औज़ार के रूप में उपयोग में लाया जाये। इसलिये यह दोहराया जा सकता है : हमारे अपने खाद्यान्न का उत्पादन अपरिहार्य 'आवश्यकता ही नहीं' है अपितु कृषि को 'प्रथम प्राथमिकता' देने के अलावा और कोई विकल्प नहीं है।

फिर भी यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा, जैसाकि कुछ पिछले पृष्ठों में कहा गया है, कि भारत में औद्योगिकीकरण के लिए एक साथ किए जाने वाले प्रयत्नों को छोड़ देना चाहिए। कृषि और उद्योग अपने अधिकांश रूप से एक दूसरे के पूरक हैं : यह अपेक्षाकृत ज़ोर देने अथवा प्राथमिकताएं प्रदान करने का प्रश्न है।

उद्योगपति और कुछ राजनीतिक नेता प्रायः इस सुझाव का उपहास करते हैं कि कृषि-उत्पादन पर ज़ोर देना चाहिए और उद्योग को दूसरा स्थान देना चाहिए। क्योंकि यह कहा जाता है कि औद्योगिक उत्पादन की समान वृद्धि के बिना कृषि-उत्पादन में वृद्धि कैसे हो सकेगी। उदाहरणार्थ, यदि हम जमीन की सिंचाई करना चाहते हैं तो हमें जलाशयों, नहरों, नलकूपों की आवश्यकता होगी जिनके लिए सीमेंट, स्पात और बिजली की आवश्यकता होती है इसीलिए उद्योगपति और, वस्तुतः देश के समस्त बुद्धिजीवी उद्योग क्षेत्रक को प्रथम प्राथमिकता देंगे या उस पर अधिक बल देंगे। उनका कहना है कि यह आशा करना गलत है कि औद्योगिक आधारिक संरचना के बिना ही कृषि-उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है।

यही एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसने भारत की आर्थिक दशा की बर्बादी में अपनी जड़ जमा ली है। यदि उनकी दी गई प्राथमिकताओं पर सहमति न प्रकट की जाए और कोई व्यक्ति आज की आर्थिक नीति के समर्थकों से झगड़ा न करे तो औद्योगिकीकरण उपभोक्ता वस्तुओं, यथा—कपड़ों, जूतों और किताबों, की सप्लाई से कृषि की उत्पादकता को बढ़ाने में मदद करेगा और इससे खेती के कामगारों को प्रोत्साहन

मिलेगा और पूंजी-वस्तुएं, (यथा—काम में आने वाली पूंजी, जैसे उर्वरक और जमा-पूंजी जैसे लोहे के औजार और डीज़ल पंप), ज़मीन के लिए किसी न किसी प्रकार से प्रोत्साहक सिद्ध होंगी। बढ़ता हुआ उद्योग (और उसके साथ-साथ आवश्यक वचन-बद्धता, बढ़ता हुआ वाणिज्य, परिवहन और अन्य सेवाएं) कृषि को एक विस्तृत बाजार उपलब्ध करा देगा जिसका कारण यह है कि शहरी जनसंख्या की बढ़ी हुई मांग होगी और कृषि-उत्पादनों के लिए संसाधित और विनिर्माण वाले उद्योग होंगे जिनके प्रसार के बिना कृषि उत्पादन में किसानों की तात्कालिक आवश्यकताओं को पूरा करने से अधिक वृद्धि नहीं होगी। औद्योगिक केन्द्रों से खेतों के उत्पादन की बढ़ी हुई मांग किसानों की प्रति व्यक्ति आय को बढ़ा देगी।

दूसरी ओर उन्नत कृषि ही एक ऐसा साधन है जो औद्योगिक और अन्य कृषीतर कामगारों को खाने के लिए खाद्यान्न, उद्योगों के लिए निर्माण-हेतु कच्चा सामान, विदेशों से पूंजी माल की खरीद के लिए विदेशी मुद्रा, उद्योग उत्पादनों के लिए आन्तरिक बाजार और उद्योगों, परिवहन और वाणिज्य आदि के चलाने के लिए कामगारों को उपलब्ध करा सकता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि अब तक कृषि उत्पादन में जो कमी रही है उससे औद्योगिकीकरण अथवा कृषीतर संसाधनों के विकास में सबसे अधिक बाधा उपस्थित हुई है। वित्तपोषण की कमी के साथ-साथ कीमतों में तेजी से वृद्धि हुई है, आन्तरिक बाजार कम होते गए हैं और इससे शहरों में बेचैनी फैल गई है, जिसके फलस्वरूप सफेदपोश कर्मचारियों और मेहनत-मजदूरी करने वाले कामगारों की लगातार हड़तालें हुई हैं, मजदूरों का अनुशासन कमजोर हो गया है और निवेश का वातावरण विकृत हो गया है। इस प्रकार उद्योग और कृषि-विकास दोनों ही काफी हद तक एक-दूसरे के लिए कारण और परिणाम बन चुके हैं। जैसे ही कृषि का विकास होता है और किसान समृद्ध होते हैं वैसे ही उद्योग समृद्ध होता है। इसी प्रकार जैसे-जैसे उद्योग विकसित होता है और कृषीतर कामगार समृद्ध होते हैं वैसे-वैसे कृषि का विकास होता है।

परन्तु इस सबका अर्थ यह नहीं है कि कृषि की अपेक्षा उद्योग महत्वपूर्ण है। यह कृषि ही है जो मुख्य भूमिका—अग्रदूत की भूमिका निभाती है। आदमी बिना औद्योगिक वस्तुओं के रह सकता है लेकिन वह बिना खाद्यान्न के जीवित नहीं रह सकता। इसी प्रकार अंतिम विश्लेषण करते हुए यह देखा जाता है कि कृषि भारी अथवा पूंजीगत माल के उद्योगों के बिना भी हो सकती है लेकिन उद्योग बिना कृषि के नहीं हो सकता। कुएं, जलाशय और नहरें बनाई जा सकती हैं और हमारे पूर्वजों तथा ब्रिटिश शासकों ने बनाये भी हैं। इसी प्रकार सीमेंट, स्पात और बिजली की सहायता के बिना भी कपड़ा, जूते और किताबें तैयार की जा सकती हैं। इसके बावजूद उद्योग की तुलना में इन वस्तुओं का बहुत ही कम अंश या भाग कृषि के उपयोग में आता है। जहां तक उर्वरकों का संबंध है कार्बनिक उर्वरकों को यदि एकत्र किया जा सके और उनका कम्पोस्ट तैयार किया जा सके, तो वे अकार्बनिक उर्वरकों की अपेक्षा किसी न किसी दिन अधिक अच्छे हो सकते हैं, जैसाकि गत 40 शताब्दियों से चीन में होता आया है।